आचार्य अभिनवगुप्तविरचित

"पर्यन्त - पञ्चाशिका - एक - अनुशीलन"

A Study Of Paryanta Pancasika

BY

ABHINAV GUPTA

स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय

को एम० फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु-शोध प्रबन्ध

निर्देशक :

डॉ. जागीर सिंह

(एम. ए. एम. फिल., पी, एच. डी.)

प्राध्यापक, स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग

जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

अनुसन्धाता

ओम कुमार

IInd copy

IInd copy

आचार्य अभिनवगुप्तविरचित

“पर्यन्त - पञ्चाशिका - एक - अनुशीलन”

“A Study Of Paryanta Pañcāśikā”

—BY

ABHINAV GUPTA

स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय

की एम० फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु–शोध प्रबन्ध

निर्देशक :

डॉ. जागीर सिंह

(एम. ए. एम. फिल., पी, एच. डी.)

प्राध्यापक, स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग

जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

अनुसन्धाता

ओम कुमार

Forwarded

27/9/99

Dean
Post Graduate Department of Sanskrit
Jammu University

CERTIFICATE

This is to certify that Mr.Om Kumar Sharma, a candidate for the Master of Philosophy Degree, worked under my guidence and supervision for his Dissertation titled "A STUDY OF PARYANTA PAÑCĀŚIKĀ".

This is further certify :-

1. That this Dissertation embodies the work of the candidate himself;
2. That the candidate worked under me for the period required under stautes;
3. That he has put in required attendance and Saminars in this Department during the period;
4. That the conduct of the candidate remained satisfactory during the period of his research work.

Dated: 27-9-99

Supervisor
Dr.Jagir Singh
Senior Lecturer
P.G. Sanskrit Department
Jammu University, Jammu

विषयानुक्रमणिका

<u>संकेत – सूची</u>

अथर्व०सं०	अथर्ववेद संहिता
अभि०भा०भा०	अभिनव भारती भाष्य
अभि०वृ०भा०	अभिधा वृत्ति भाष्य
ई०प्र०वि०	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी
ई०प्र०वि०	ईश्वरप्रतयभिज्ञाकारिका
ई०प्र०का०आ०	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका आगमाधिकार
ईशा०उ०शां०पा०	ईशावास्योपनिषद् शान्ति पाठ
ई०प्र०वि०मं०ज्ञा०	ईश्वरप्रत्याभिज्ञाविमर्शिनीमंगलाचरणज्ञानाधिकम्
ई०प्र०वि०वि०भा०	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी भाष्य
ई०प्र०वि०वि०मं०श्ला०	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी मंगलाचरण श्लोक
ऋ०वे०वा०सू०	ऋग्वेद वाक् सूक्त
ऐ०उ०	ऐतरेय उपनिषद्
कवि०क०आ०	कवि०कला आलोचना
का०अं०सा०	काव्य अलंकार सार
का०क०वि०	काम कला विलास
का०क०वि०चि०व०	काम कला विलास चिद्वल्ली
का०प्र०च०उ०	काव्य प्रकाश चतुर्थ उल्लास
का०प्र०बा०वि०टी०	काव्य प्रकाश बाल विबोधिनी टीका
क्रम०स्तो०श्लो०	क्रम स्तोत्र श्लोक
गु०परा०	गुरूनाथ परामर्श
घ०क०कु०वि०	घटकर्परकुलकविवृत्ति
छां०उ०	छान्दोग्य उपनिषद्

त्रि॰र॰ज्ञा॰ख॰	त्रिपुरा रहस्य ज्ञान खण्ड
तै॰उ॰	तैत्तिरीय उपनिषद्
तं॰आ॰	तन्त्रालोक
त॰आ॰वि॰भा॰	तन्त्रालोक विवेक भाष्य
तं॰सा॰	तन्त्रसार
तं॰व॰धा॰भा॰	तन्त्रवटधानिकाभाष्य
ध्व॰आ॰	ध्वन्यालोक
ध्व॰आ॰लो॰	**ध्वन्यालो**कलोचन
नि॰दु॰टी॰	निरूक्त दुर्ग टीका
प॰च॰	परमार्थ चर्चा
प॰सा॰	परमार्थ सार
प॰प॰पु॰	पर्यन्त – पञ्चाशिका पुष्पिका
प॰पं॰पा॰टि॰	पर्यन्त पञ्चाशिका पाद टिप्पणी
पं॰पा॰प्र॰व॰	पच – पादिका प्रथम वर्णक
पा॰यो॰सू॰	पातञ्जल योगसूत्र
परा॰त्रि॰वि॰	परात्रिंशिका विवरण
प्र॰उ॰	प्रश्नोपनिषद्
प्र॰पा॰भा॰	प्रशस्तपादभाष्य
प्र॰सू॰वि॰	प्रत्यभिज्ञासूत्रविमर्शिनी
प्र॰हृ॰सू॰	प्रत्यभिज्ञाहृदयम्
प्रा॰तो॰तं॰भा॰	प्राणतोषिणीतन्त्र भावार्थ

ब्र०सू०	ब्रह्मसूत्र
ब्र०सू०शां०भा०	ब्राह्मसूत्रशांकरभाष्य
ब्रा०सू०शा०भा०पा०टि०	ब्राह्मसूत्रशांकरभाष्यपादटिप्पणी
भृ०श०त्र०मं०श्लो०	भर्तृहरि शतकत्रयम् मंगलाचरण श्लोक
भै०स्तो०	भैरव स्तोत्रावलि
भा०भा०	भास्करी भाष्य
म०प्र०	महानय प्रकाश
म०मं०	महार्थ मञ्जरी
मु०उ०	मुण्डकोपनिषद्
मु०उ०शां०भा०	मुण्डक उपनिषद् शांकरभाष्य
मा०उ०गो०पा०भा०व्या०	माण्डुक्य उपनिषद् गौडपादभाष्यव्याख्या
मा०वि०तं०	मालिनीविजयतन्त्रम्
मा०वि०वा०	मालिनीविजयवार्तिकम्
यो०ह्न०	योगिनीहृदयम्
यो०ह०दी०भा०	योगिनीहृदयम्दीपिका भाष्य
यो०ह्न०से०भा०	योगिनीहृदयम् सेतु भाष्य
र०पं०श्लो०	रहस्य पञ्चदशी श्लोक
रघु०प्र०स०	रघुवंश प्रथमसर्ग
रा०च०मा०मं०श्लो०	रामचरितमानसमंगलाचरण श्लोक
रा०तं०	राज तरंगिणी

वि0पं0टी0	विरूपाक्षपञ्चाशिका टीका
वृ0उ0	बृहद्दारण्यक उपनिषद्
वृ0मं0उप0	वृहद् मञ्जरी उपदेश
वा0प0	वाक्यपदीयम्
वा0म0	वामकेश्वर मतम्
श्वे0उ0	श्वेताश्वतरोपनिषद्
शि0महि0स्तो0	शिव महिम्नस्तोत्र
शि0दृ0	शिव दृष्टि
शि0सू0	शिवसूत्र
शि0सू0भू0	शिवसूत्रभूमिका
शि0सू0वि0	शिवसूत्रविमर्शिनी
शं0दि0	शंकरदिग्विजय
ष0त्रिं0त0सं0	षट्त्रिंशत्तत्वसंदोह
स्प0का0	स्पन्दकारिका
स्प0का0वि0	स्पन्दकारिकाविवृत्ति
स्व0त0	स्वच्छन्तदन्त्रम्
स्व0भ0	स्वच्छन्दभैरव
सा0शा0	सार शास्त्र
सौं0ल0	सौन्दर्यलहरी
श्री0तं0स0	श्री तन्त्रसद्भाव
श्री0भ0गी0	श्रीभगवद्गीता

श्री0भ0गी0शां0भा0	श्रीभगवद्गीताशांकरभाष्य
श्री0भ0गी0सं0	रीभगवद्गीतासंग्रह
श्री0भा0पु0	श्री भागवतपुराण
श्री0मृ0भ0	श्रीमृत्युञ्जय भट्टारक
श्री0वि0मं0भा0	श्री विद्यामन्त्रभाष्य
श्री0ल0स0	श्री ललिता सहस्रनाम

****

प्राक्–कथन

श्री पराभगवती की अव्याहत कृपा से एवं ब्रह्मनिष्ठश्रोत्रिय–तत्त्वज्ञ परब्रह्मलीन स्वर्गीय स्वामी माधवानन्द सरस्वती जी, जोकि मेरे माता–पिता व गुरू तीनों ही एक साथ थे, के शुभाशीर्वाद से तथा परमशाक्त स्वर्गीय श्री स्वामी भास्करानन्द सरस्वती जी के वरदहस्त से – अपनी दर्शनाचार्य की परीक्षा शि0वि0वि0 से उत्तीर्ण करने के पश्चात् मुझे, गुरूतुल्य स्वामी गंगाधरानन्द सरस्वती जी ने आगे भी दर्शनशास्त्र का अध्ययन करने को प्रोत्साहित करते हुए, शोध–कार्य करने की प्रेरणा प्रदान की। और मैंने भी उनके आदेश को शिरोधार्य करके असमर्थ होते हुए भी आज्ञापालन को कर्त्तव्य समझते हुए उक्त कार्य को करने का उपक्रम किया । इसी मध्य परिस्थितिवश मुझे शि0वि0वि0 में दर्शन के विषय के विशेषज्ञ न मिलने के कारण अनेक स्थलों पर जैसे– चण्डीगढ़, होशियारपुर आदि परिचित स्थानों पर भी समय यापन करना पड़ा । तदपि कार्य सिद्धि न हुई । तदुपरान्त वर्ष 1998 में मैं कार्यवश अपने घर जम्मू आया तो मैंने विचार किया कि क्यों न जम्मू वि0वि0 में भी जाकर देखा जाए और यदि कोई दर्शनविद्या विशेषज्ञ मिल जाए तो अत्युत्तम होगा ।

इसी विचार को लेकर जब मैं जम्मू वि0व0 के संस्कृत विभाग में गया तो मेरी मनोकामना शीघ्र ही फलित हो गई और देवयोग से मुझे डॉ0 जगीरसिंह जी से व्यापक समाधान व प्रेरणा प्राप्त हुई । मैंने प्रारम्भ में "वेदान्त" विषय पर ही कुछ कार्य करने का प्रस्ताव किया, तो डॉ0 साहब ने दिग्दर्शन प्रदान करते हुए कहा कि नहीं । वेदान्त के क्षेत्र में पर्याप्त कार्य हो चुका है, और तुम्हें किसी नवीन शाखा में कार्य करना चाहिए , जहाँ कि अभी पर्याप्त क्षेत्र है । मैंने भी उनकी आज्ञा शिरोधार्य करके उनका अनुगमन किया ।

फलस्वरूप उन्होंने काश्मीर शैवागम के महान् दिग्गज आचार्य अभिनवगुप्तपाद की एक लघुकाय रचना "पर्यन्त–पञ्चाशिका" पर कार्य करने का विधान किया । इसके पूर्व मैंने वार्ता में भी उनसे देवी क्षेत्र के रहस्य के विषय में चर्चा की थी और आग्रह किया था, कि कोई ऐसा ही विषय बतलाइए जोकि "शक्तितत्त्व" के रहस्य से सम्बद्ध हो ।

इस पर उन्होंने उक्त कृतिका 'पर्यन्त-पञ्चाशिका' एक अनुशीलन यह विषय प्रदान किया । मेरे समक्ष सबसे प्रमुख समस्या यही उपस्थित हुई कि विषय निर्धारण होने के पश्चात् भी उक्त पुस्तक जम्मू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के पुस्तकालय से भी न मिली । मैं चिंतित हो गया, परन्तु मुझे ढांढस बंधाते हुए निर्देशक महोदय ने इसकी प्राप्ति के स्थल का पता बताया और मैंने भी शीघ्र ही लखनऊ विश्वविद्यालय जाकर वहाँ के संस्कृत विभागाध्यक्ष की कृपा से उक्त पुस्तक प्राप्त की । और जम्मू आकर डॉ० साहब की कृपा से उनके दिग्दर्शनपूर्वक कार्यारम्भ किया ।

शैवागम के व्यापक अध्ययन की ऊनता होते हुए भी गुरू कृपा से मैंने कृति के मूल तात्पर्य को प्रकाशित करने का भरसक प्रयास किया है, तदपि "समादधति सज्जना:" की शरण ही एकमात्र अवलम्ब है, अस्तु ।

"पर्यन्तपञ्चाशिक एक अनुशीलन" इस शीर्षक से मैंने अपना शोध-कार्य प्रारम्भ किया है, तथा सम्पूर्ण कार्य को पांच अध्यायों में विभक्त किया है ।

प्रथमाध्याय में महामाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्तनाथ की जीवन परिचय, स्थिति काल व उनकी रचनाओं के विषय में यथोचित प्रकाश डाला है । द्वितीयाध्याय में "पर्यन्त-पञ्चाशिका" के लेखकत्व के विषय में उपस्थित विप्रतिपत्तियों की समीक्षा की गई है । तृतीयाध्याय में इस कृति में प्रतिपादितमत विषयक आलोचना प्रस्तुत की गई है, जिससे कृति के प्रतिपाद्य विषय की स्पष्टता दशाई जा सके । चतुर्थाध्याय में पर्यन्तपञ्चाशिकिा के प्रतिपाद्य विषय व वर्ण्यविषय का प्रतिपादन किया गया है । इसमें कतिपय उपखण्डों के द्वारा सम्पूर्ण विषय का समायोजन किया गया है । क्योंकि आगमिक रचना होने के कारण इसमें पारिभाषिक पदों की बहुलता होने से भी उक्त व्यवस्था करनी पड़ी है ।

यह चतुर्थ अध्याय नौ उपखण्डों में विभाक्ति है, जिसमें "पर्यन्त पञ्चाशिका" के निम्नलिखित प्रतिपाद्य विषयों का अन्तर्भाव दिया गया है जैसे - भैरवी, भैरव, षडध्वा, सृष्टिप्रक्रिया, अनुभव, स्वानुभूति के उपाय, बन्ध-मोक्ष वा जीवन्मुक्ति, नामकरण ।

इस प्रकार से "पर्यन्त–पञ्चाशिका" का सम्पूर्ण विषय इन्हीं बिन्दुओं में विवेचित किया गया है । पञ्चमाध्याय में पूर्वोक्त चतुर्थाध्याय के प्रतिपाद्यविषय का शैवागम में क्या स्थान व स्वरूप है? यह दर्शाया गया है तथा किस प्रकार से यह रचना त्रिक् शास्त्र के तीनों प्रस्थानों जैसे प्रत्यभिज्ञा, कुल, क्रम, का समन्वय करती है, तथा साथ ही कुल मत की आधिकता का प्रतिपादन करते हुए 'परावाक्' के स्वरूप का प्रदर्शन करती है ।

आचार्य अभिनवगुप्त का अभिप्राय इस रचना में क्या रहा है ? इसका भी स्पष्टीकरण इस अध्याय में किया गया है । तथा वर्तमान काल में इस कृति की अथवा इसके प्रतिपाद्य विषय की कितनी उपयोगिता है ? यह भी संक्षेप में विवेचित किया गया है ।

अतएव इस प्रकार से मैंने यथासम्भव प्रयास से इस लघु शोध प्रबन्ध की प्रस्तुति की है और इसके सफल प्रकाशन हेतु में सर्वप्रथम अपने अनुभवी व वात्सल्यरसपूर्ण निर्देशक डॉ० जागीर सिंह जी का धन्यवाद करता हूँ कि जिन्होंने समय – समय पर मुझे समुचित दिग्दर्शन करके अपने अनुभव से कृतार्थ करते हुए मेरा ज्ञानवर्द्धन किया तथा मेरी अमूल्य सहायता की । इसी के साथ मैं अपने ऋषिकल्प प्रातः स्मरणीय पराभगवती के अनन्य सेवक श्रीमान् लक्ष्मणरामशर्मा जी का भी अत्यन्ताभारी व ऋणी हूँ कि जिन्होंने अपने वात्सल्य, ज्ञान व अमूल्य अनुभव की वर्षा करके मुझे पग – पग पर उत्प्रेरित करके व यथा सम्भव साहित्य प्रदान करने से भी कृतार्थ किया । इसी प्रकार प्रातः स्मरणीय विद्वन्मूर्धन्य डॉ० गंगादत्तशास्त्री जी का भी मैं अत्यन्त आभारी हूँ कि जिन्होंने मुझे पुत्रवत् प्रेरणाएँ दी, तथा मेरा मार्गदर्शन किया । इसी के साथ श्री रणवीर संस्कृत शोध पुस्तकालय, श्री रघुनाथ मन्दिर के पुस्तकालयाध्यक्ष का भी मैं अत्यन्ताभारी रहूंगा कि जिन्होंने मुझसे समय– समय पर पुस्तकादि उपलब्ध करवाने में सहयोग दिया ।

जम्मू विश्व विद्यालय के स्नातकोत्तर संस्कृत विभागाध्यक्ष, प्राचार्यवर्ग, पुस्तकालयाध्यक्ष एवं कार्यालयीय वर्ग का भी आभारी हूँ कि जिन्होंने मेरे कार्य को सुचारूरूप में चलने में महत्वपूर्ण योगदान समय–समय पर देकर कृतार्थ किया ।

इस प्रकार से अन्य भी सभी गुरूजनों व सिद्धयोगियों का भी मैं ऋणी हूँ कि जिनकी चरण स्मृति मात्र से ही मैं सदैव स्वयं को समर्थ बनता रहता हूँ व लक्ष्य की ओर उन्मुख रहता हूँ ।

आशा है कि यह लघु–शोध–प्रबन्ध आगमिक आचार्यों के अगाध रहस्यों की गहनता में प्रवेश करने के लिए हिन्दी भाषियों का यत्किञ्चित् उपकार कर सकेगा तथा आचार्य अभिनवगुप्त के प्रतिपादित "परावाक्" तत्त्व का समुचित प्रदर्शन का सकेगा । तो मेरा प्रयास कृतकृत्य होगा । श्री पराभगवती के चरण कमलों में समर्पित करते हुए, जिससे कि मानव समाज का कल्याण हो ।

विनीत

ओमकुमार

ओम कुमार शर्मा

प्रथमाध्यायः–

आचार्य अभिनवगुप्त–जीवन परिचय

– स्थितिकाल

– उनकी रचनाएँ

आचार्य अभिनव गुप्त जीवन परिचय, स्थिति काल एव उनकी रचनाएँ

भारत भूमि विश्व में आध्यात्मिक भूमि के रूप में ही विशेष रूप से विख्यात है । और पूर्व–पश्चिम–उत्तर व दक्षिण चतुर्दिक् आध्यात्मिक सम्पदा से भरित है । भारत के प्रत्येक क्षेत्र ने अनेक साधक, सिद्ध, योगी, ज्ञानी व तपस्वियों की अमूल्य सम्पत्ति मानव जाति को प्रदान की है।और इसी देन के कारण भारत को विश्व–गुरू की उपाधि भी दी जाती है । यद्यपि यह संशय होता है कि क्या वर्तमान में भी भारतवर्ष विश्व गुरू की उपाधि से अलङ्कृत किया जा सकता है अथवा नहीं ? तदपि इसमें कोई तनिक भी विशय नहीं है कि आज भी वह आध्यात्मिक क्षेत्र में विश्वगुरू है ?

कतिपय जन विश्वगुरूत्व का भाव वैज्ञानिक, यान्त्रिक अथवा अन्य क्षेत्रों की उन्नति से कल्पित करके ही चिन्तन करते हैं,परन्तु उनकी यह धारणा असमीचीन है । क्योंकि अन्य के क्षेत्र से अन्य क्षेत्र की परीक्षा कैसे की जा सकती है ? क्या रसायनज्ञ,वनस्पतिज्ञ की दृष्टि से परखा जा सकता है ? अस्तु ।

प्रस्तुत प्रकरण भी भारतीय आध्यात्मिक जगत् के एक अनुपम देदीप्यमान सूर्य से सम्बन्ध रखता है कि जिन्होंने भारत के शिरोमुकुट में अवतरण करके उसे प्राकृतिक सम्पदा के साथ ही साथ उसकी आध्यात्मिक सम्पदा को भी पुष्ट व प्रतिष्ठित किया है । यद्यपि इस पुनीत वसुधा पर अनेक ऋषि,मुनि, काव्यज्ञ, साहित्यज्ञ आदि ने अपनी साधना से इसका गौरव बढ़या है, तदपि आध्यात्मिकता के क्षेत्र में भी काश्मीर को यदि उत्तर की काशी कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति न होगी ।

काश्मीर की आध्यात्मिक दार्शनिक परम्परा में काश्मीर शैवदर्शन के प्रवर्तक आचार्यो में वसुगुप्त, सोमानन्द, उत्पलदेव, अभिनवगुप्तपाद आदि हैं, जिन्होंने आध्यात्मिक विद्या के क्षेत्र में अनेक कीर्तिमान स्थापित करते हुए, उसके प्रचार–प्रसार में अद्वितीय भूमिका का निर्वाह किया है और जिसके कारण भावि पीढ़ियाँ भी काश्मीर के चिरन्तन आध्यात्मिक अमृतरस का पान करती रहेंगी ।

प्रकरणानुसार हम इस उक्त परम्परा में अवतरित होने वाली आध्यात्मिक – जगत् व मुख्यतः काश्मीर शैवागम की अन्यतम महान् सिद्ध विभूति श्रीयुत् आचार्य शिरोमणि निगम शिखा निष्णात सकल शास्त्र पारावार श्री भगवती जगज्जननी के अनन्य भक्त शिरोमणि महामना अभिनवगुप्तनाथपाद के जीवन व योगदान पर प्रकाश डालेंगे। क्योंकि इनकी प्रतिभामात्र आध्यात्मिक क्षेत्र में ही दृष्ट नहीं होती, अपितु साहित्य व काव्य के क्षेत्र में भी इनका योगदान अनुपम व अतुलनीय है ।

<u>जीवन परिचय</u>

आचार्य अभिनव के जीवन परिचय का व्यापक वर्णन हम उन्हीं की रचित रचना "तन्त्रालोक" से प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि उसमें उन्होंने विशेष रूप से अपना जीवन परिचय प्रदान किया है ।

इस महान् शैवागम की आध्यात्मिक धरोहर "तन्त्रालोक" के अनुसार कश्मीर के तत्कालीन नरेश ललितादित्य अपनी विद्याप्रियता के कारण कन्नौज के विद्वान् निवासी तथा अभिनवगुप्त के एक महान् पूर्वज अत्रिगुप्त को काश्मीर में ले आए थे ।[1]

कल्हण की राजतरंङ्गणी में कन्नोज के राजा यशोवर्मण तथा काश्मीर नरेश ललितादित्य के युद्ध का वर्णन भी चित्रित है, जिसके अनुसार यशोवर्मण की पराजयोपरान्त ललितादित्य विजयोपहार स्वरूप अमूल्य विद्यारत्न "अत्रिगुप्त" को काश्मीर ले आए थे ।[2]

1– "अन्तर्वेद्यामत्रिगुप्ताभिधानः प्राप्योत्पत्तिं प्राविशत् प्राग्र्यजन्मा ।
श्रीकाश्मीरांशश्चन्द्रचूडावतारै र्निसंख्याकैर्पावितोपान्तभागान् ।।" (परा० त्रि० वि०, पृ० 280)

2– "राजाललितादित्यः सार्वभौमस्ततोऽभवत् ... यशोवर्माद्रिवाहिन्याः क्षणात् कुर्वान्विशोषणम् .... जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम्. अभूद्कालितातीरं गृहप्राङ्गणवद्वशे "। (राज० तं० 41126–145)

ललितादित्य ने उन्हें भूमि आदि सम्पत्ति प्रदान करके वितस्ता नदी के तट पर ही आश्रय प्रदान किया था ।[1]

अत्रिगप्त की सुदूर वंशावली में वराहगुप्त हुए जिनका पुत्र नरसिंहगुप्त नामक था व सकलशास्त्रविशारद के नाम से प्रसिद्ध था. व लोक में चुखुलक नाम से उसकी ख्याति थी । वे परमशिवभक्त थे और उनके पुत्ररत्न स्वरूप ही सर्वज्ञशिरोमणि आचार्य अभिनवगुप्तपाद का जन्म हुआ था ।[2] इनकी माता का नाम विमलाकला था । वह एक परम साध्वी तथा शिवभक्त थी । अपने माता–पिता को वे शिशक्ति स्वरूप में ही पूजित करते थे, तथा स्वयं को भी शिवशक्ति की समन्वयात्म अनुभूति से ही उत्पन्न कहते हैं ।[3] अतएव इन्हें "योगिनीभू" भी कहा जाता[4] था । इनके पितृव्य (चाचा) वामनगुप्त थे । एक ख्यातिप्राप्त विद्वान् थे ।[5] जिनके पुत्र क्षेम, उत्पल, अभिनव, चक्रक व पद्मगुप्त थे । ये सभी पुत्र अत्यन्त योग्य सकल शास्त्र निष्णान व

1– "तस्मिन् कुबेरपुरचारिसितांशुमौलिसांमुख्यदर्शन .....।
वैतस्तरोधसि.... परिकल्पितभूरिसंपत् ।।" (तं०आ०, 37/52)

2– "तस्यान्वये महति कोऽपि वराहगुप्तनामा बभूव भगवान् स्वयं अन्तकाले ।
गीर्वाणसिन्धुलहरीकलिताग्रमूर्धा .... तस्यात्मज चुखुलकेतिजने... नरसिंहगुप्तः।"
(तं०आ०37/53–4)

3– "विमलाकलाश्रयाभिनवसृष्टिमहाजननी भरिततनुश्च पञ्चमुखगुप्तरूचिर्जनकः ।
तदुभययामलस्फुरितभावविसर्गमयं... मम संस्फुरतात् ।।" (तं०सा०, श्लोक०1)

4– "उक्तः स योगिनीभूः स्वयमेव .... भक्तः"। (तं०आ० ,1/15)

5– "तत्र हास्याभासो यथास्मत्पितृव्यस्य वामनगुप्तस्य लोकत्तराणि चरितानि..."
(अभि०भा०भा०, 1/297)

परमशिवानुचर थे ।[1]

इस प्रकार से अभिनव की बाल्यावस्था एक विद्यावान् कुल व सुखमय वातावरण में ही व्यतीत हुई थी । परन्तु विधाता को सम्भवतः अन्य ही अभीप्सित था।अतएव बाल्यावस्था में ही वे मातृसुख से वंचित हो गए ।[2]

वे अभी मातृदुःख से उबर ही नहीं पाए थे कि इनके पिता ने भी सहभागिनी के वियोग के कारण यौवनावस्था में ही परमवैराग्यशील होकर पुत्रमोह का त्याग करके गृहस्थाश्रम का त्याग कर दिया ।

इन घटनाओं के कारण इनका हृदय पूर्णरूप से वैराग्यान्वित हो गया तदपि यदा–कदा पूर्व मातृ–पितृस्नेह की स्मृति के कारण इनके हृदय को व्यथित भी होना पड़ता था।[3]

परिणामस्वरूप माता–पिता के वात्सल्य से वंचित होने के कारण इनका जीवन शिवभक्ति व उससे सम्बन्धित आध्यात्मिक शास्त्र चिन्तन अध्ययन में ही व्यतीत होने लगा । शिवतत्त्व के गहन रहस्य की जिज्ञासा इन्हें अनेक गुरूओं का अनुगमन करवाती रही[4] । अभिनवगुप्तानुसार जिस प्रकार भंवरा पुष्परस व सुगन्धि का इच्छुक होने पर एक पुष्प से दूसरे पुष्प पर जाता है, इसी प्रकार ज्ञान के जिज्ञासु साधक शिष्य को एक गुरू से दूसरे गुरू के पास जाना चाहिए[5] । इस प्रकार उनका सम्पूर्ण समय शिवभक्ति में व्यतीत होने लगा । तथा तदतिरिक्त समय में ही वे शास्त्र रचनादि करते थे ।

1– "अन्ये पितृव्यतनयाः शिवशक्तिशुभ्राः क्षेमोत्पलाभिनवचक्रकपद्मगुप्ता : ।
ये संपदं ..... भावयन्तः ।।"(तं0आ0, 37/67)

2– "माता व्ययूयुजदमुं किल बाल्य एव दैवो हि भाविपरिकर्मणि संस्करोति" (तं0आ0,36/56)

3– " माता परं बन्धुरिति प्रवादः स्नेहोऽतिगाढीकुरूते हि पाशम ।
तन्मूलबन्धे गलिते किलास्य मन्ये स्थिता जीवन एव मुक्तः ।।(तं0आ0,36/57)

4– "साहित्यसान्द्ररसभोगपरो महेशभक्त्या स्वयं ग्रहणदुर्मदया गृहीतः ।स तन्मयीभूय केवलं पुनः । तदीय संभोग विवृद्धये पुरा...गुरूवेश्मसु स्वयम् ।(वही–,58.9)

5– " आमोदार्थी पुष्पात् पुष्पान्तरं व्रजेत् ।।विज्ञानार्थी तथा शिष्यो गुरोर्गुर्वन्तर त्विति ।
गुरूणां भूयसां मध्ये यतो विज्ञानमुत्तमम् ।।"(वही ,22/45–46)

प्रत्यभिज्ञा व क्रमसिद्धान्त में इन्होंने स्वयं को सोमानन्द, उत्पलदेव व लक्ष्मणगुप्त का शिष्य स्वीकार किया है[1]। व्याकरणशास्त्र का ज्ञान इन्हें अपने प्रसिद्ध वैयाकरणज्ञ पिता से ही प्राप्त हो गया था ।[2]

प्रसिद्ध देवीपीठ जालन्धर पीठ के अधिष्ठाता स्वामी सिद्ध श्री शम्भुनाथ जी, जोकि कौलमत के आचार्य थे, से इन्होंने कौलमत की दीक्षा ज्ञान व सिद्धि भी प्राप्त की थी । अतएव वे उन्हें साक्षात् शिव ही मानते थे[3]। ब्रह्मविद्या की प्रापित इन्हें आचार्य भूतिराज से मिली ।[4] द्वैताद्वैत सम्प्रदाय की शिक्षा इन्होंने भूतिराज के पुत्र[5] से प्राप्त की । तथा नाट्यशास्त्र में यह भट्टतोत के शिष्य थे ।[6]

1– "त्रैयम्बकप्रसरसागरवीचिसोमानन्दात्मजोत्पलजलक्ष्मणगुप्तनाथः ।।"
(तं0आ0 37/61)

2– "पित्रा स शब्दगह्ने कृतसंप्रवेशः ..... मलपूतचित्तः ।।" –(वही 58)

3– "श्रीशम्भुनाथभास्करचरणनिपातप्रभापगतसंकोचम् । अभिनवगुप्तहृदम्बुजम् ।" (वही, 51)

4– "अथोच्यते ब्रह्मविद्या सद्यप्रत्ययदायिनी ।
शिवः श्रीभूतिराजो यामस्मभ्यं प्रत्यपादयत् ।।" (तं0आ03, पृ0 194)

5– "श्री नाथ संततिमहाम्बर धर्मकान्तिः श्रीभूतिराजतनयः स्वपितृप्रसादः ।।" (वही)

6– " सद्भिप्रतोतवदनोदितनाट्यवेदतत्वार्थम् ...
माहेश्वराभिनवगुप्तपद प्रतिष्ठः ...... विशदी करोति ।"
(अभि0भा0भा0मं0श्लोक 4)

ध्वनि शास्त्र व आम्नायशास्त्र का ज्ञान इन्होंने आचार्य भट्टेन्दुराज से प्राप्त किया था[1]। द्वैत तन्त्र व तन्त्र का ज्ञान इन्होंने क्रमश वामननाथ[2] व सुमतिनाथ से प्राप्त किया था। अर्धत्रयम्बक शाखा में महारत श्री शम्भू नाथ से प्राप्त किया[3]।

आचार्य अभिनव ने सर्वशास्त्रज्ञ होने के लिए न्याय, मीमांसक, बौद्ध, जैन आदि दर्शनों के आचार्यो का शिष्यत्व भी स्वीकार किया था[4]। तत्त्व जिज्ञासा व सेवा भावना के बल से वे अनेक गुरूओं की सेवा करके तत्त्त गुरू से तत्तविषयक गूढ रहस्यों का ज्ञान सहज में ही प्राप्त कर लेते थे। यही कारण रहा कि इनमें अनेक गुरूजनों का आशीर्वाद व सेवा पूर्णरूप से पल्लविक पुष्पित व फलित हुई। परिणाम स्वरूप इन्होंने अनुपम व विस्तृत साहित्य की रचना कि। उसी प्रकार जिसप्रकार मधुमक्षिकाएँ विविध पुष्पों के रसों से एक अनुपम जीवनामृत पदार्थ "मधु" तैयार करती हैं।

1– "भट्टेन्दुराजादाम्नाय विविच्य च चिरंधिया।
कृतोऽभिनवगुप्तेन गीतार्थ संग्रहः।।" (भ0गी06)

2– "आनन्दसंततिमहार्णवकर्णधारः ... वामननाथः" (तं0आ0, 37/60)

3– "तुर्याख्यसंतति महोदधिपूर्णचन्द्रसोमतः,
सकलवित्तिकलशशम्भूनाथः।।" (वही, 61)

4– "अध्मप्यतः एवाधः शास्त्रदृष्टि कुतूहलात्।
नास्तिकार्हतबौद्धा नुपाध्यायानसेविषम्।।"
(वही09, पृ0 206)

इन की रचनाओं में विशेषरूप से प्रत्यभिज्ञा तन्त्र व साहित्य मुख्य हैं । क्रम व कोलमत पर भी इनका पूर्णाधिकार था । इसीकारण तत्त्काल घटित हुई एक सर्वधर्म आचार्य गोष्ठि में इनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा एवं प्रकाण्ड विद्वत्ता को मूल्यांकित करके ही इनको सर्वधर्मगुरू की उपाधि प्रदान की गई थी [1] । इनके शिष्यों में सर्वगुणसम्पन्न, योग्य, प्रकाण्ड पण्डित व सर्वदर्शनज्ञाता होने का श्रेय क्षेमराज को ही प्राप्त हुआ है । आचार्य क्षेमराज परमशैव व स्वगुरू सम ही गुणवान भी थे । साहित्य व प्रत्यभिज्ञाशास्त्र में क्षेमेन्द्र ने आचार्य अभिनव को अपना गुरू व कवितादाता भी स्वीकारा है [2] । अभिनव गुप्त अपने अनुज मनोरथगुप्त को अनुगृहीत करने हेतु जब परमसत्ता में लीन हुए तो कतिपय जनों ने इनका (क्षेमेन्द्र) शिष्य बनना ही परमसौभाग्य माना ।। इनके शिष्यों में इनके चचेरे भाई भी थे [3] । इनके अतिरिक्त इनकी भगिनी अम्बा भी इनकी शिष्या थी । वह इन्हें अपना भाई नहीं अपितु गुरू भी स्वीकार

1– "यो मेलने क्वचन दैशिकयोगिनीनाम, अद्य गुरूक्रमौघः ।
त्वय्येव इत्युपलालितोऽभूत्, तस्यै नमोऽभिनवगुप्तगुरूत्तमाय ।।" (गु०परा०श्लोक, 7)

2– "कतिस्तत्रभवन्महामाहेश्वराचार्यवर्य श्रीमदभिनवगुप्तपादपद्मोपजीवितः श्रीमतो राजानक क्षेमराजाचार्यस्य" । (प्र०ह्०पृ० 144)

क– "श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात् साहित्यं बोधवारिधेः ।आचार्यशिखरमपोर्विद्या विवृत्तिकारिणाः।।" (वृह०मं०उप०श्लोक, 37)

ख– "एनां नमः सरस्वत्यै यः क्रियामातृकां जपेत् क्षेमेन्द्र स लभते भव्योऽभिनवाभवम् ।" (कवि०क०आ०)

3– "अन्ये पितृव्यातनयाः शिवशक्तिशुभ्राः क्षेमोत्पलाभिनवचक्रकपद्मगुप्ताः । ये संपदंभावयन्तः।।" (तं०आ० 37/67)

करती थी तथा शिव समान उनकी आराधना करती थी[1] । मालिनीविजयवार्तिक के अनुसार आचार्य अभिनव गुप्त का शिष्य मन्द्र उनके कष्ट निवारण हेतु अपने नगर प्रवरपुर में ले गया तथा वहीं पर उनके निवास का भी योग्य प्रबन्ध किया । तब वहां रहते हुए ही उन्होंने मन्द्र व कर्ण की विनती पर "मालिनीविजयवार्तिक" की रचना की[1] ।

अभिनवगुप्त के जीवन का मूल उद्‌देश्य अपने अनुचरों हेतु दुर्लभ विपुल ज्ञानराशि को संचित करना तथा अपनी महान् कृतियों द्वारा परमतत्त्व के यथार्थज्ञान को प्रकाशित करने हेतु समस्त आगमिक व तन्त्रों के मतो के सार का प्रतिपादन करना था, जिससे शिष्यों प्रशिष्यों को प्रत्येक विषय का ज्ञान सुगमता से प्राप्त हो सके[3] ।

मधुराजयोगिन के अनुसार ये "श्रीकण्ठ" के अवतार ही माने जाते थे[4] । क्योंकि अल्पायु में ही रहस्यागमों के भाष्यकार होने का गौरव इन्हें प्राप्त था । आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में इन्हें अभिनवगुप्तपादाचार्य की संज्ञा से अभिहित किया है[5] । वामनाचार्य ने

1– "अम्बाभिधाना किल सा गुरू तं स्वभ्रातरं शम्भुदृशाभ्यपश्यत् ।
भाविप्रभावोज्जवल भव्यबुद्धि ..... न बन्धुबुद्धया ।।" (तं0आ0 37/59)

2– "विक्षिप्तभावपरिहारमसौ... मन्द्र... स्थितिमस्य चक्रे ।
प्रवरपुरनामधेये पुरे पूर्वे काश्मीरिका अभिनवगुपतः । सच्छिष्यकर्णमन्द्राभ्याम् चोदितोऽहम् ।।" (मा0वि0वा0मं0 श्लोक

3– "तस्य मे सर्वशिष्यस्य नोपदेशदरिद्रता इत्यादि दृशा सर्वत्रैव गुरूपदेशस्य भावात् आत्मनि भूयोविद्यत्वं ... अस्य ग्रन्थस्यापि निखिलशास्त्रान्तरसारसंग्रहाभिप्रायत्वं दर्शयति ।" (तं0आ0 11 पृ0 24)

4– "श्रीमानभिनवगुप्ताचार्यः श्रीकण्ठनाथ एवेति । प्रतिपाद्यतामितरथा...भवेदित्थम्।" (गु0परा0श्लोक 23)

5– "श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः ।" (का0प्र0च0उ0पृ0 129–135)

काव्य प्रकाश की बालबोधिनी नामक टीका में अभिनवगुप्तपाद नाम की परिभाषा करते हुए नवीन रहस्यार्थ को कहा है कि अभिनवगुप्तपाद "नवीन" (शिशु) सर्प अर्थात् चरण गुप्त रहते हों" । यह इनके गुरू ने इनकी बहुमुखी प्रतिभा से प्रभावित होकर ही इनका उक्त नाम रखा था ।[1]

भरतमुनि के भरतनाट्यम् में दक्षिण के आचार्यो में इन्हें शेषावतार की उपाधि प्रदान की है ।[2] "शङ्.करदिग्विजय" में माध्वाचार्य ने कामरूप देशनिवासी (वर्तमान आसाम) व वेदान्तसूत्रों के शाक्तभाष्यकार के रूप में अभिनवगुप्त का वर्णन किया है । जिन्हें शास्त्रार्थ में शङ्.कर ने (788–820 ई0पू0) पराजित किया था ।[3] परन्तु निःसन्देह रूप से यह कहा जा सकता है कि यह काश्मीर अद्वैत शैवदर्शन के महान् आचार्य से पृथक् ही होंगें, क्योंकि उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि शङ्.कराचार्य व अभिनवगुप्त (काश्मीर शैवागमाचार्य) के समय का बहुत अन्तर है ।

महामाहेश्वराचार्य के परमशिव में लीन होने की भी एक रोचक कथा प्रचलित है । काश्मीरी प्रथा के अनुसार आचार्य अभिनवगुप्त अपने 1200 शिष्यों के सहित शिवधामगमनवेला में "भैरव कन्दरा" नामक गुहा में, जोकि श्रीनगर व गुलमर्ग के मध्य में स्थित है, प्रविष्ट हुए थे तथा तदुपरान्त कभी भी पुनः बाहर नहीं आए । यह गुहा आज भी काश्मीर में "भैरवनदी"

1– "इदमत्र रहस्यं पुरा किल... श्री वागुदेवतावतारो (मम्मटः) गूढं तन्नाम "अभिनवगोपानसी गुप्तपाद" इति वैदग्ध्यमुखेनाभिव्यनक्ति ।।" (का0प्र0बा0वि0टी0, पृ0 95)

2– (द्र0अभि0भा0पृ0 23)

3– "तदनन्तरमेव कामरूपानधिगत्याभिनवोपशब्दगुप्तम् ।
अजयत् किल शाक्तभाष्यकारं स च भग्नो मनसे-दमालुलोचे ।। "
(शां0दि0वि0, 15–157)

वा भैरवगांव के समीप स्थित है । इस घटना से अनुत्तर समाधि के प्रभाव से उनका शिष्य मण्डली सहित ही शिवमय हो जाना सिद्ध होता है , जो स्वयं में एक पूर्ण सिद्ध योगी की सफल साधना व अप्रतिम प्रभाव का प्रतीक है ।

(ख) **स्थितिकाल**

काश्मीर अद्वैत शैवाचार्यो में आचार्य अभिनवगुप्त की ख्याति समस्त भूमण्डल में व्याप्त है । वे केवल दार्शनिकता के कारण ही नही, अपितु साहित्यकता के कारण भी पर्याप्त प्रसिद्ध थे । यद्यपि इनके स्थिति काल के विषय में पर्याप्त सामग्री व प्रमाण नहीं मिलते, तदपि इनके पूर्ववर्ती आचार्यो के जीवन काल के बहिसाक्ष्यों तथा इनकी कृतियों के अन्त साक्ष्यों के आधार पर लगभग यथार्थता के निकट पहुँचा जा सकता है ।

बहिसाक्ष्य

महामाहेश्वराचार्य के विभिन्न गुरूओं में से दो गुरू लक्ष्मणगुप्त व भट्टेन्दुराज दो पृथक् परम्पराओं से सम्बन्धित रहे हैं । भट्टेन्दुराज के गुरू मुकुलभट्ट थे, जिनकी कृपा से ही इन्होंने काव्यालङ्कारसार की लघु विवृति लिखी । अभिधावृत्तिमातृका के लेखक भट्टमुकुल सिद्ध भट्ट कल्लट के पुत्र थे । अन्य परम्परा में अभिनवगुप्त के गुरू लक्ष्मणगुप्त थे ।

1– "क) तदद्दृष्टिसंसृतिच्छेदिप्रत्यभिज्ञोपेशिमः ।
श्रीमल्लक्ष्मणगुप्तस्य गुरोर्विजयते वचः ।।"

लक्ष्मणगुप्त के गुरू उत्पल व उनके श्री सोमानन्द थे । इस प्रकार इन दोनों परम्पराओं की तालिकानुसार –

(क) सोमानन्द ----- उत्पलदेव --- लक्ष्मणगुप्त ---- अभिनवगुप्त ।

(ख) भट्टकल्लट -- भट्टमुकुल--- भट्टइन्दुराज---- अभिनवगुप्त ।

यह स्पष्ट होता है कि सोमानन्द व भट्ट कल्लट प्रायः समकालीन थे । कल्हण की राजतरंगिणी के अनुसार भट्ट कल्लट को राजा अवन्तिवर्मण के शासन काल में एक सिद्ध पुरूष के रूप में प्रसिद्धि मिल चुकी थी । अवन्तिवर्मण का राज्यकाल 855/6 – 883/4 ई0पू0 निश्चित किया गया है । इसका अर्थ है कि भट्टकल्लट अवश्य ही अवनितवर्मण के राज्य काल से 25/30 वर्ष पूर्व में रहे होंगे तथा उस समय तत् तत् विषय के ज्ञान सम्बन्धी सभी अवस्थाओं को लांघ चुके होंगे, जिससे उनकी इतनी ख्याति हुई होगा । अतएव भट्ट कल्लट का काल ई0 825–925 ई0 के लगभग प्रतीत होता है । भारतीय परम्परानुसार गुरू–शिष्य परम्परा में कम से कम 25 वर्ष का अंतर मानने से अभिनवगुप्त का समय निम्न प्रकार निश्चित किया जा सकता है ।

1–	सोमानन्द	825–925 ई0पू0	भट्टकल्लट
2–	उत्पलदेव	850–950 ई0पू0	भट्टमुकुल
3–	लक्ष्मणगुपत	875–975 ई0पू0	भट्टइन्दुराज
4–	अभिनवगुप्त	900–1015 ई0पू0	अभिनवगुप्त

इस प्रकार अभिनवगुप्त के जीवन काल का प्रारम्भ दशम शताब्दी के प्रारम्भ 900 ई0पू0 के लगभग माना जा सकता है ।

<u>अन्तः साक्ष्य</u>

अभिनवगुप्त की रचनाओं में उपलब्ध काल निर्देशानुसार निम्न प्रकार से अनुमान किया जा सकता है –

(क) अभिनवगुप्त ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी में इसका रचना काल अन्त्य युगांश/कलियुग सम्वत्सर, तिथि, राशि, जलधि के संकेत से ज्योतिषीय परम्परानुसार दिया है । जो नियमानुसार 4115 बनता है । इसके साथ ही निःसन्देह रूप में तत्कालीन लौकिक सम्बत्सर भी 90 वपिति है । यह लौकिक संवत् काश्मीर का प्रसिद्ध सप्तर्षि संवत्सर ही है । संवत्सर विशेषज्ञों के अनुसार सप्तर्षि संवत कलिसंवत् के 25 वर्ष पश्चात् आरम्भ हुआ था । अतः उपर्युक्त नियमों के अनुसार उस समय –

सप्तर्षि संवत् = कलिसंवत् – 25

= 4115–25 = 4090 बनता हे ।

इससे विदित होता है कि सप्तर्षि संवत् 4090 को ही आचार्य ने संक्षिप्त रूप से 90 लिखा है ।

विक्रमी संवत् = कलिसंवत् – 3040

= 4115 – 3044 = 1071 विक्रमी संवत् ।

इसी प्रकार विक्रमी संवत् से 57 कम करने पर ई0 संवत् बनता है ।

ईस्वी सं0 = 1071 – 57 = 1014 ई0

(ख) क्रम स्तोत्र की रचना का समय माघशीर्ष मास की कृष्णपक्ष की नवमी तिथि व सप्तर्षि संवत्सर 66 दिया है । जो ज्योतिष शास्त्रानुसार निम्नप्रकार होगा –

ईस्वी संवत् = सप्तर्षि संवत् – 3076

=4066–3076=990 बनता है ।

(ग) इसी प्रकार भैरव स्तोत्र के अनत में इसका रचनाकाल पौषमास की कृष्णपक्ष की दसवी तिथि व सप्तर्षि संवत्सर वसु,रस,सांकेतिक रूप से दिया गया है ।
जो गणना करने पर 68 बनता है । अतः उक्त नियमानुसार –

इस्वी संवत् = सप्तर्षि संवत् – 3076

= 4068–3076 = 992 बनता है ।

(घ) अभिनव गुप्त ने परात्रींशिका के विवरण में उल्लिखित किया है, कि इसकी रचना उन्होंने अपने लघुभ्राता मनोरथगुप्त, कर्ण, कश्मीर के तत्कालीन राजा यशस्कर के प्रधान अमात्य के पुत्र व एक सज्जन रामदेव – इन तीनों शिष्यों की विनती पर की थी ।

राजा यशस्कर के राज्यकाल की स्थिति ई0प0 939–948 निश्चित् है । अतः इस समय के मध्य में ही अभिनवगुप्त ने इस की रचना की होगी ।

अतः उपर्युक्त तथ्यों को आधार पर ज्ञात हुआ कि अभिनवगुप्त ने "परात्रिंशका विवरण" ई0 प0 939–948 के मध्य ही लिखी होगी । क्योंकि यह उनकी स्पष्टतया प्रथम कृति नहीं है । अतः उन्होंने इसके पूर्व भी कतिपय रचनाएँ की होंगी । इस प्रकार से

————————————

अधिकाधिक 8–10 वर्ष और कम मान लेने पर ई0पू0 9 30 के लगभग ही उन्होंने लेखन कार्य प्रारम्भ किया होगा यह प्रतीत होता है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि उनका आविर्भाव काल संभवतः ई0 पू0 900 के लगभग रहा होगा ।

विद्वानों के अनुसार उनके द्वारा 44 कृतियों की रचना की गई ऐसा माना जाता है ।अतः परात्रिंशिका व क्रमस्तोत्र के रचना काल के मध्य में भी उन्होंने अनेक कृतियाँ लिखी होंगी । अभिनवगुप्त के कथन अनुसार ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी उनकी अन्तिम कृति थी[1] जिसकी रचना 1014 ई0पू0 की गई । अतः यदि एक दो वर्ष तक और भी शरीर धारण रखा होगा, तो लगभग ई0पू0 1046 का समय उनका परमशिवधाम गमनकाल माना जा सकता है । अतः उनका स्थितिकाल ई0पू0 900 से ई0 पू00 1015 के लगभग माना जाना ही तर्कसंगत प्रतीत होता है ।

(ग) <u>कृतियाँ</u>

आचार्य अभिनवगुप्त एक सिद्ध पुरुष ही नहीं अपितु एक परमकोटि के लेखक भी थे । विभिन्न ज्ञान की शाखाओं के अनुशीलन व अनेक गुरूजनों की सेवा के बल से तथा अपने पुरूषार्थ के द्वारा जिस प्रकार उन्होंने अपार ज्ञानमय परमशिव की अनुभूति हुई थी; उस अपार ज्ञानरूपी शिखा को प्रज्ज्वलित करने के लिए व अपने शिष्यों को सकलशास्त्रनिधि तत्वज्ञान बनाने हेतु ही उन्होंने अपनी अनुभूति को लिपिबद्ध किया था । आचार्य अभिनवगुप्त ने दर्शक, तन्त्र व काव्यपरक अनेक रचनाएँ की थी, परन्तु उनमें से कतिपय कृतियाँ ही उपलब्ध होती हैं व अन्य कृतियों की अवगति केवल आनुमानिक रूप से सन्दर्भ के द्वारा

ही होती हैं । इसका संक्षिप्त विवरण दार्शनिक, तान्त्रिक, साहित्यिक, आगमिक, उपदेश व स्तोत्र साहित्य के रूप में निम्नलिखित है ।

(क) **दार्शनिक साहित्य–**

बोध पञ्चदशिका, शिवदृष्ट्यालोचन, लाध्वी प्रक्रिया, पदार्थप्रवेशनिर्णयटीका, प्रकीर्णक विवरण, भेदवाद विदारण, कथामुखतिलक ।

(ख) **तान्त्रिक कृतियाँ–**

मालिनीविजयोत्तरवार्तिकम्, परात्रिंशिकाविवरण,
अनुत्तरतत्त्व विमर्शिनी ।

(ग) **साहित्यिक कृतियाँ**

ध्वन्यालोकलोचन, अभिनव भारती, घटकर्परकुलक-विवृति काव्यकौतुकविवरण पुरूरवा विचार

(घ) **शैवागमिक कृतियाँ–**

तन्त्रालोक, तन्त्रसार, तन्त्रवटधानिका, भगवद्गीतार्थ संग्रह, परमार्थसार,
ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाववतिविमर्शिनी,
परमार्थद्वादशिका, अनुत्तराष्टिका, तन्त्रोच्चय, तत्वाध्वप्रकाशिका, बिम्ब–प्रातिबिम्बवाद
योग वासिष्ठ, अनुत्तर तत्त्व विमर्शिनी, स्पन्द ।

(ङ) स्तोत्रात्मक कृतियाँ

परमार्थचर्चा, रहस्यपञ्चदशिका, क्रमकेलि, पूर्वपञ्चिका स्तोत्र, प्रकरण विवरण, देवीस्तोत्र विवरण, देहस्थ देवता चक्रस्तोत्र क्रम स्तोक्ष शिवशक्त्यविनाभाव स्तोत्र, पूर्वप्रभृतिपञ्चिकास्तोत्र, भैरवस्तोत्र, अनुत्तरशतक ।

(च) **उपदेशात्म कृतियाँ–**

महोपदेशविंशतिकम्, अनुभव निवेदन । इसका संक्षिप्त विषयात्मक विवरण निम्नप्रकार से क्रमश दिया जाता है ।

दार्शनिक रचनाएँ

(क) **बोध पञ्चदशिका**

इस कृति की रचना सुकुमारमति शिष्यों को दार्शनिक गहन सिद्धान्तों के सरलतया बोध करवाने के लिए ही की हैं । यद्यपि इसका कलेवर अत्यन्त लघु मात्र 15 श्लोकों का है, तदपि ये अद्वैत सिद्धान्त के सूत्र स्वरूप है ।

(ख) **शिवदृष्ट्यालोचन–**

यह कृति भी अभिनव की लुप्त कृतियों में से एक है । यह सोमानन्द की शिवदृष्टि पर रचित भाष्य था, जिसका परिचय परात्रिंशिका विवरण में दिए गए उद्धरण से मिलता है ।[1]

(ग) **लघ्वी प्रक्रिया–**

स्तोत्रशैली में रचित यह कृति एक दार्शनिक रचना है, जिसमें दार्शनिक तथ्यों का शैवी दृष्टि कोण से सुन्दर प्रतिपादन किया गया प्रतीत होता है ।

(घ) **पदार्थ प्रवेश निर्णयटीका–**

इस कृति का पता भी मात्र उदाहरण से ही चलता है । इसमें अनुसंधान स्मृति अनुभव इत्यादि पदार्थो का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण सर्वाङ्गीण रूप में किया गया प्रतीत होता है ।

1– "यत्रोक्त मयैव शिवदृष्ट्यालोचने प्रेषोऽपि स भवेद्यस्य [illegible]ता नाम विद्यते ।"
(परा0त्रि0 वि0पृ0, 116)

(ङ) **प्रकीर्णक विवरण–**

इस रचना की गणना भी लुप्त कृतियों में है व केवल एक उदाहरण से ही इसका पता चलता है । सम्भवतया यह व्याकरण दर्शन से सम्बन्ध रखने वाली रही होगी ।

(च) **भेदवादविदारण–**

यह भी लुप्त कृति है । इस ज्ञान भी उदाहरण से ही होता है । इसके अभिधान से ही इसकी विषय वस्तु का पता ज्ञान हो जाता है कि यह अद्वैतवाद का मण्डन ही करती है ।[1]

(छ) **कथामुख –तिलक:–**

यह रचना भी अनुपलब्ध है व उदाहरण ज्ञान से ही इसकी सिद्धि है । सम्भवतया इसका निरूपण विषय षोडश नैयायिक पदार्थों के द्वारा शैवमत का प्रस्थापन रहा है ।[2]

तांत्रिक कृतियाँ

(क) **मालिनिविजयोत्तर** वार्तिक

यह रचना मालिनी विजयतन्त्र पर लिखी गई है इस मूल कृति को मालिनिविजयोत्तर वा श्री पूर्व शास्त्र भी कहते हैं । यह तन्त्रशास्त्र है, जिसमें देवी भैरवी व भैरव के सम्वाद रूप में शैवयोग के सिद्धान्तों का वर्णन विशदता से मिलता है । वस्तुतः उक्त सम्वाद "सिद्ध योगीश्वरतन्त्र का ही सार स्वरूप है । आचार्य अभिनव ने इस वार्तिक में आगमशास्त्र के गुह्य व क्लिष्ट स्थलों का भी सरल शब्दों में व्याख्यान किया गया है ।

(ख) **परात्रिंशिका विवरण**

यह कृति भी आगमिक कृति है, इसमें "इच्छा – ज्ञान– क्रिया शक्तियों की अधिष्ठात्री परात्रिंशिका का सुष्ठु वर्णन भैरव भैरवी संवादरूप में मिलता है । यह कुलशाखा से सम्बन्धित शास्त्र है, आचार्य ने सोमानन्द द्वारा रचित इसकी विवृत्ति के अर्थ को ही स्पष्ट करने के लिए इस पर विवरण लिखा था । यह "कौलमत" के सिद्धान्तों को जानने की अद्वितीय कृति है ।

(ग) **अनुत्तरतत्त्वविमर्शिनी**

यह कृति भी लुप्त प्राय है और सम्भवतः इसके अभिधानुसार हो इसमें अनुत्तरतत्त्व परमशिव की ही विवेचना की गई होगी ।

साहित्यिक – कृतियाँ

(क7 **ध्वन्यालोकलोचन–**

आचार्य आनन्दवर्धन की साहित्यिक ध्वनि शास्त्र सम्बन्धी प्रसिद्ध रचना ध्वन्यालोक पर अभिनवगुप्त द्वारा रचित आधिकारिक टीका "ध्वन्यालोकलोचन" व (काव्यालोकलोचन" व "केवललोचन" के नाम से भी प्रसिद्ध हैं । यद्यपि यह भाष्य रचना है, तदपि अभिनवगुप्त ने इसमें ध्वनि व रस के विषय में अपनपा स्वतन्त्र मौलिक दृष्टिकोण भी प्रतिपादित किया है । जिसकी साहित्यशास्त्र में अनुपम ख्याति है । अभिनवगुप्त स्वयं भी इसकी विशेषता को बताते हुए कहते हैं कि – जिस प्रकार लोचन के विना चन्द्रिका का प्रकाश भी तुच्छ होता है, उसी

उसी प्रकार ध्वन्यालोक पर लिखी गई यह कृति शास्त्र के यथार्थतथ्यों के ज्ञान को जानने के लिए लोचन का ही कार्य करती है ।[1]

(ख) <u>अभिनवभारती</u>

आचार्य भरतमुनि द्वारा रचित "नाट्यशास्त्र", "भरतनाट्यम्" पर रचित अनुपम वृत्ति"अभिनव भारती" वा "नाट्यवेदविवृत्ति" के नाम से प्रसिद्ध है । इसमें अभिनवगुप्त ने नाट्यकला सम्बन्धी अपना स्वतन्त्र मौलिक व औचितयपूर्ण सिद्धान्त प्रस्तुत किया है । विशेषतः भरतमुनि के रससिद्धान्त की सुस्थापना ही इसका मुख्य लक्ष्य रहा है । यद्यपि यह खण्डनमण्डनात्यक वृत्ति से उपोद्घलित है, तदपि नाट्यशास्त्र के तत्वों को जानने हेतु अत्यन्त महनीय रचना है ।

(ग) <u>घटकर्परकुलकविवृत्ति</u>

महाकवि कालिदास के द्वारा रचित यह "घटकर्परकुलका" रचना आचार्य अभिनव के द्वारा भी प्रशंसनीय मानी गई हैं । इसमें चित्रकाव्य व ध्वनिकाव्य के लालित्य का समन्वय किया गया है व निर्दोष यमक का सुन्दर प्रयोग विलसित होता है । अपने कवि कुल शिरोमणि परमसाहित्यिक विद्वान् गुरू इन्दुराज की उत्प्रेरणा से आचार्य अभिनव इसकी विवृत्ति लिखने का कार्य पूर्ण किया था ।[3]

(घ) काव्यकौतुकविवरण

अपने साहित्यिक गुरू भट्टतौत की "काव्य कौतुक" नामक रचना पर आचार्य अभिनव ने यह विवरण लिखा था । इस का पता ध्वन्यालोक लोचन के उनके दिए उद्हरण से चलता है ।[1]

(ङ.) पुरूरवविचार–

यह भी इनकी लुप्तप्राय मात्र कृति है और इसके भी शीर्षिक से ही इसके साहित्यिक होने का भान होता है । तदपि इसकी नियामकता नहीं की जा सकती ।

शैवागमिक रचनाएँ

(क) तन्त्रालोक

काश्मीर शैव दर्शन की विश्वकोश स्वरूप यह कृति आचार्य अभिनव की सबसे प्रसिद्ध व उत्कृष्ट रचना है ।इस कृति में परमसत्ता का स्वरूप 36 तत्त्व, बन्ध मोक्ष, शाम्भवादि उपाय के साथ ही साथ प्रत्यभिज्ञा, क्रम, कौल मतों के विषय में भी पर्याप्त विचार किया गया है । यह कृति शैवागम के प्रवर्तक आचार्यो व उनके उपजीव्य आगमों का भी प्रतिनिधितव करती है । इसका कलेवर अत्यन्त विशाल है व इसमें 37 आह्निक हैं ।

(ख) तन्त्रसार

पूर्वोक्त "तन्त्रालोक" का विशाल कलेवर हो जाने के कारण उसकी जनसामान्य सुलभता को पूरी न होते देखकर आचार्य ने भाषा व कलेवर की दृष्टि से तद्अपेक्षा लघु रचना तन्त्रसार की, जिससे मात्रसार का ज्ञान ही हो सके । सर्वजनहितकारी मन्तव्य रखते हुए भी उन्होंने लोकोत्तर शाम्भवोपाय का वर्णन ही तन्त्रसार में दिया है । जिससे यह विशेष

महत्वशाली हो गयी है । इसमें 22 आह्निक हैं ।

(ग) तन्त्रवटधानिका

"तन्त्रसार" का भी अतिसंक्षिप्त स्वरूप आचार्य अभिनव ने इस "तन्त्रवटधानिका" नामक रचना में दिया है जोकि 3 आह्निकों में अनुष्टुप् छन्दों में चित्रित है ।[1] इसमें अतिसंक्षेप से उन्होंने "तन्त्रालोक" में प्रतिपाद्य विषय का संग्रह किया है ।

(घ) भगवद्गीतार्थसंग्रह–

इस रचना में गीता के रहस्य का अतिसंक्षिपत वर्णन किया है और शंकराचार्य के भाष्य के विपरीत "ज्ञानकर्म" पार्थक्य के स्थान पर "ज्ञानकर्म" समुच्चय ही इस कृति का मुख्य प्रयोजन रहा है । भगवान् श्री कृष्ण शैवाचार्यो के गुरू स्वरूप ही इसमें अलङ्कृत है तथा यह रचना आगम के अन्तर्गत ही मानी जाती है ।

(ङ) परमार्थसार

अभिनवगुप्त की यह रचना "त्रिक्दर्शन" की मुख्य विशेषताओं का संक्षेप में प्रतिपादन करती है इसमें 105 श्लोक हैं तथा यह उपनिषदीय धारा के समानान्तर चलती प्रतीत होती है क्योंकि इसके श्लोकों में अनेक स्थल पर उपनिषदीय पदों का प्रयोग मिलता है ।

1– "एषाभिनवगुप्तेन रचिता तन्त्रवटधानिका ।
हृद्भूमौ यस्य रूढः स शिवकल्पमहीरूहः ।।" (तं०व०धा०भा० 3/43)

(च) ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी

आचार्य उत्पलदेव की प्रसिद्ध रचना ईश्वरप्रत्यभिज्ञा कारिका पर लिखी गई "विमर्शिनी", "लघुविमर्शिनी" व चतुर्थसहस्री" के नाम से भी कही जाती है । इसमें दर्शन के सैद्धान्तिक पक्ष का व्यापक विवेचन किया गया है ।

(छ) ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी

आचार्य उत्पलदेव की "ईश्वरप्रत्यभिज्ञावृत्ति" व विवृत्ति पर लिखी गई विशद् व्याख्या को "विवृत्तिविमर्शिनी" कहा जाता है । इसे "वृहतीविमर्शिनी" भी कहा जाता है, क्योंकि इसमें लगभग 18000 श्लोकों के समान शब्दों में प्रत्यभिज्ञादर्शन के सिद्धान्तों का विशद एवं तर्कसंगत प्रतिपादन किया है । श्रीलक्ष्मणगुपत ने ही आचार्य अभिनवगुप्त को "प्रत्यभिज्ञाशास्त्र" का ज्ञान प्रदान किया था । उन्हीं से प्रेरणाएं पाकर उन्होंने उक्त टीकाएँ लिखी थीं ।[1]

(ज) परमार्थद्वादशिका–

यह कृति भी अत्यन्त संक्षेप में लिखी गई है । इसके द्वादशश्लोक भी परमसत्ता के वर्णन से आप्लावित हैं ।

(झ) अनुत्तराष्टिका

इस कृति में भी आचार्य ने अतिसंक्षेप में शैवागम के सिद्धान्तों का सारगर्भित प्रतिपादन किया हे । यह "अनुत्तर" शब्द परमशिव का ही वाचक है ।

---

1 "श्रीमल्लक्ष्मणगुप्तप्रदर्शितपथः श्रीप्रत्यभिज्ञाविधौ ।
टीकार्थ प्रविमर्शिनी रचयते वृत्तिं प्रशिष्यो गुरोः ।।"
(ई0प्र0वि0वि0श्लोक 2)

(भ) **तन्त्रोच्चय**

इसके विषय में भी कतिपय संशय बना ही हुआ है कि यह उनकी रचना है या नहीं ? परन्तु इसके मंगलाचरण व पुष्पिका में अभिनवगुप्त का कृतित्व दिया गया है जिससे उक्त सन्देह निवारण हो जाता है । यह तन्त्रालोक पर रचित "वार्तिक" ही है और तन्त्रसार व तन्त्रवटधानिका के मध्य के कलेवर वाली है ।

(ट) **तत्त्वाध्वप्रकाशिका**

तन्त्रालोक पर रचित जयरथ के भाष्य (विवेक) से इस कृति का संकेत मिलता है यह भी लुप्त कृतियों की श्रेणी में आती है या इसका विषय "तत्त्वाध्वा" का प्रकाशन रहा है[1] ।

(ठ) **बिम्बप्रतिबिम्बवाद**

इसमें तन्त्रालोक के तृतीय आह्निक में प्रतिपादित "बिम्बप्रतिबिम्बवाद" का शैवदृष्टिकोण से निरूपण किया गया है ।

(ड) **अनुत्तरतत्त्वविमर्शिनी**

योग – वासिष्ठ में दोनों कृतियां भी आचार्य की रचनाएँ संभावित की जाती हैं ।

स्तोत्रात्मक कृतियाँ

(क) **परमार्थ चर्चा**

यह अत्यन्त लघुस्तोत्रमात्र आठ श्लोकों में निबद्ध है । इसमें परमेश्वर तत्त्व के माहात्म्य का ही वर्णन किया गया है कि वह परमप्रकाशमय, चिद्घन, अद्वितीय तत्त्व है व

1- "ग्रन्थकृता च तत्त्वाध्वप्रकाशनादौ तत्र – तत्र तन्मतावलम्बनयेव कृतम् ।।"

(तं०आ०भा०12, पृ० 19)

उसके अतिरिक्त किसी भी तत्त्व का अस्तित्व नहीं है ।[1]

(ख) रहस्यपञ्चदशिका

इस सरस्वती की स्तुति में आचार्य ने संविद् देवी का वर्णन करते हुए शैव सिद्धान्तों का प्रकाशन भी किया है। तथा उस देवी को 'अकार' से लेकर 'क्षकार' पर्यन्त समस्त वर्णों की परामातृका के रूप में विवेचित किया है । यद्यपि इसमें मात्र 15 श्लोक आचार्य अभिनव के अनुसार हैं, तदपि यह अत्यन्त रहस्यमयी रचना है ।[2]

(ग) क्रमकेलि–

क्रमस्तोत्र पर लिखित भाष्य का नाम ही क्रमकेलि है । यद्यपि यह लुप्त कृति है तदपि इसका उललेख परात्रिंशिका विवरण के उद्धरण से मिलता है ।[3]

(घ) पूर्व पञ्चिका

यह अप्राप्त कृतियों में से है, परन्तु आचार्य की रचना है इसमें संशय नहीं, क्योंकि इसका पता "मालिनीविजयवार्तिक" के उदाहरण से चलता है । यह "वार्तिक" कृति हो सकती है। परन्तु स्तोत्र पद के कारण ही इसकी गणना यहाँ की गई है ।

(ङ.) **प्रकरणविवरण**

यह स्तोत्रात्मक कृति है तथा प्रकरणास्तोत्र पर रचित विवरण है, जिसका पता भी तन्त्रसार के उद्धरण से लगता है ।

(च) **देवीस्तोत्र विवरण**

अद्वैतशैवदृष्टि से रचित यह "विवरण" आचार्य आनन्दवर्धन रचित "देवी स्तोत्र" पर लिखित है । इसका आकर इन्हीं की रचना भगवद्गीतार्थसंग्रह में मिलता है ।

(छ) **देहस्थ देवताचक्रस्तोत्र**

महामहेश्वराचार्य अत्यन्त सारभूत मात्र पन्द्रह श्लोकों की यह कृति है । आचार्य ने इसमें अण्ड (देह) व ब्रह्माण्ड (विश्वप्रपञ्च) का अत्यन्त सुन्दर समन्वय किया है । देह के अवयवों में देवों की कल्पना करके आत्मतत्व की महत्ता का वर्णन किया है ।

(ज) **क्रमस्तोत्र**

यह 20 श्लोकों की रचित भगवान् शिव की स्तुति है तथा अपनी रचना की प्रायाणिकता का वर्णन भी करती है[3] । इसमें परमशिव की शक्तियों व ऐश्वर्य का वर्णन किया गया है ।

(झ) **शिवशक्त्यविनाभाव स्तोत्र**

यह दार्शनिक स्तोत्रात्मक रचना है । भगवद्गीतार्थसंग्रह से इसका विवरण मिलता है

तथा यह शिवशक्ति के एकत्व की प्रतिपादिका कृति है ।[1]

(ञ) **पूर्वप्रभृतिपञ्चिका स्तोत्र**

यह भी लुप्तप्राय– कृति है और संभवतः आचार्य की ही रचना हो ऐसा माना जाता है ।

(ट) **भैरव स्तवः**

यह स्तुत्यात्मक कृति है जिसमें आचार्य ने परमशिव की स्तुति भैरव के रूप में की है । जोकि इस जगत् सृष्टि–संहार करने वाले हैं ।

(ठ) **अनुत्तरशतक**

यह भी आचार्य की संभावित रचनाओं में से है, और शीर्षक के संकेत की लक्षणा से यह "अनुत्तरभैरव" की शतकीय स्तुति प्रतीत होती है अथवा उसकी दार्शनिक मीमांसा ।

उपदेशात्मक – कृतियाँ

यह 20 श्लोकों में निबद्ध आचार्य की अद्वितीय रचना है । इसमें उन्होंने जगत् व आत्मा का अतुलनीय वर्णन करते हुए उनकी एकता दर्शाई है । इसी के साथ अनुपाययुक्त परापूजा का भी अत्यन्त सारगर्भित वर्णन किया है ।

(ख) अनुभव निवेदन

यह कृति भी अतिसंक्षिप्त कृतियों की श्रेणी में आती है तथा आत्मानुभूति के उपायों का मार्मिक चित्रण करती है । इस प्रकार से लगभग 44 के निकट इनकी रचनाओं की संख्या का अनुमान किया जाता हे । संभवतः इस में अधिक भी उनकी कृतियाँ हो सकती हैं जो काल के गाल में समा गई हों । तदपि उनके विषय में एक तथ्य निस्सन्देह रूप से सिद्ध हो जाता है कि वे एक दैवी प्रतिभा–सम्पन्न सिद्ध पुरूष थे अथवा साक्षात् शिवावतार भी कहा जाए तो कोई अत्युकित नहीं होगी । क्योंकि विना दैवी कृपा या देवी आवेश के क्या कोई ऐसी रहस्य विद्या का आविष्कार कर सकता है ? कदापि नहीं ।

यह काश्मीर शैवदर्शन व भारतीय आध्यात्मिक विद्या का परमसौभाग्य है कि इनकी कृतियाँ भावी पीढ़ियों ज्ञानपिपासुओं, जिज्ञासुओं व अर्न्तमुखी योगियों तथा सत्य के अन्वेषकों के लिए प्रकाश स्तम्भ का कार्य करेंगीं, और भारत की आध्यात्मिक दार्शनिक धरोहर की पुष्टि व प्रतिष्ठा भी करती रहेंगी ।

इस प्रकार से भारतीय आध्यात्मिक जगत् आप्रलयान्त तक उनका ऋणी रहेगा तथा कदापि भारतीय दर्शन विद्या का लोप नहीं हो पाएगा । यह आचार्य अभिनवगुप्त नाथ पाद के व्यक्तित्व व ज्ञान का ही प्रभाव होगा । इसी के साथ यदि इन्हें उत्तर का शंकराचार्य भी कहा जाए तो कोई भी आपत्ति नहीं हो सकती । ऐसे ज्ञानभास्कर को अनन्त–2 प्रणाम ।

द्वितीयाध्याय:–

"पर्यन्त–पञ्चाशिका" का लेखकत्व एक समीक्षा

"पर्यन्त–पञ्चाशिका" का लेखकत्व एक समीक्षा

प्रत्येक विषय वा वस्तु के ज्ञान में एक प्रामाणिक प्रक्रिया या प्रमाण की आवश्यकता पड़ती है और उसके बिना तत् सम्बन्धी विषय की प्रामाणिकता के सन्देह की निवृत्ति होना कदापि सम्भव नहीं होता ।

महान् शैवाचार्य अभिनवगुप्त ने अपनी अन्यतम कृति तन्त्रालोक में इसी उक्त रहस्य को प्रकट करते हुए कहा है कि –

शास्त्र से, गुरू से व स्वतः इन तीन बिन्दुओं के आधार पर ही किसी भी वस्तु वा विषय की प्रामाणिकता सिद्ध की जाती है ।[1] तथा शासन करने से ही शास्त्र कहा जाता है ।[2] अर्थात् जो किसी वस्तु वा विषय का शासन करे अथवा उसका नियामक प्रतिपादक हो तो उसका अध्ययन करके पुनश्च गुरूजनों से साम्प्रदायिक आचार के अनुसार विद्या प्राप्त करनी चाहिए । क्योंकि जो गुप्त तत्वों का उपदेश करते हैं वे ही गुरू कहे जाते हैं ।[3]

जो ज्ञान का उपदेश कर ज्ञान अज्ञान का रोध करते हैं वे भी गुरू कहे जाते हैं।[4] अतएव गुरू से सुनकर वा पढ़कर ही तथ्य का ज्ञान होता है । तदनन्तर स्वतः अर्थात् अपने सत्तर्क युक्त अनुभव से युक्त ज्ञान को ही चरम प्रामाणिकता प्रदान की जाती है । इन पूर्वोक्त

1– "शास्त्रतः गुरूतः स्वतः"। (तं0आ0,4/41)

2– "शासनात् शास्त्रमित्याहुः ।"(पा0यो0सू0,व्या0भा0,1/1)

3– "गुप्तं रूवन्तीतिगुरवः ।"(नि0दुर्ग0, टी0)

4– "गुरुस्त्वन्धकार प्रोक्तः । तम् यो रोधयति स गुरूः ।"

(मा0वि0तं0)

तीनों ही बिन्दुओं के मिश्रित होने पर वस्तु वा विषय की प्रामाणिकता सिद्ध मानी जाती है । अतएव इसी प्रक्रिया के द्वारा ही इस कृति के लेखकत्व का निर्धारण किया जा रहा है। क्योंकि आचार्य अभिनवगुप्त अनेक कृतियों के लेखक रहे हैं और उनमें से कुछ में ही उन्होंने अपने प्रणयन के कारणों का उल्लेख किया है । जिससे वे उनकी कृतियाँ सिद्ध होती हैं ।

जैसे – परा त्रिंशिका विवरण, मालिनीविजयवार्तिकम्, भगवद्गीतासंग्रहः, परमार्थसार तन्त्रालोक, तन्त्रसार आदि ।

परन्तु "पर्यन्त–पञ्चाशिका" भी उन्हीं कतिपय कृतियों में से हैं, जिनकी रचना के सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं उललेख नहीं किया है । इसी करण से कुछ विद्वानों में इसके लेखकत्व के विषय में विशय रहा है । तदपि कतिपय अन्तः व बाह्य साक्ष्यों के आधार पर यह पुष्टि हो जाती है कि यह कृति आचार्य अभिनवगुप्त की ही प्रणीत है ।

<u>अन्तः प्रमाण–</u>

कृति के अन्तः प्रमाण के रूप में कृति के अन्त की पुष्पिका से यह सिद्ध होता है कि यह कृति आचार्य अभिनव की हो रचना है । क्योंकि वहां इनके लेखकत्व के रूप में अभिनवगुप्तनाथ नाम मिलता है ।[1]

उक्त पुष्पिका में उल्लिखित "अभिनवगुपतनाथ" वाक्य में "नाथ" पद से यह संशय उत्पन्न होता है कि यह कृति उक्त आचार्य अभिनवगुप्त की नहीं है, जिन्होंने अन्य कृतियों जैसे – तन्त्रालोक, परात्रिंशिका आदि लिखी हैं ।

1– "परिपूर्णाकृतिरियिं श्रीमदाचार्याभिनवगुपतनाथस्य "पर्यन्त–पञ्चाशिका नाम ।"

(प0पं0पु0पृ022)

परन्तु उनके शिष्य प्रशिष्यों के द्वारा उन्हें उक्त अभिनवगुप्तनाथ, अभिनवगुप्तपाद, आचार्याभिनवगुप्त, अभिनवगुप्ताचार्य, अभिनवगुप्तपादाचार्य आदि अभिधानों से भी उल्लिखित किया है ।

मधुराजयोगि ने अपनी रचना "गुरूनाथपरामर्श" में "अभिनवगुप्तनाथ" शब्द का प्रयोग किया है,[2] जोकि भरतमुनि के नाट्यशास्त्र की टीका अभिनव भारती के लेखक हैं । अतः यह नाम का विषय विवादास्पद नहीं है ।

इसी प्रकार "महार्थ मञ्जरी" में "महेश्वरानन्द" ने उनके प्रति अतिशय आदर प्रकट करते हुए उनको अध्यात्मज्ञान के समुद्र का कल्पवृक्ष कहा है , और आचार्य अभिनवगुप्तपाद संज्ञा से सम्बोधित किया हे ।[2]

<u>बाह्य साक्ष्य</u>

बाह्य साक्ष्य से तात्पर्य है कि अभिनवविरचित "पर्यन्त पञ्चाशिका अथवा उनकी अन्य कृतियों की अपेक्षा उनके शिष्य प्रशिष्य की परम्परा में मौखिक वा लिखितरूप में किसी शैवाचार्य से "पर्यन्तपञ्चाशिका" के लेखक के रूप में उनका स्मरण किया हो या उससे उद्धृत किया हो ।

इसके अतिरिक्त उनके समकालीन वा उत्तरवर्ती किसी भी आचार्य द्वारा उनका उल्लेख "पर्यन्त – पञ्चाशिका" के लेखक के रूप में किया गया हो । इस तथ्य के परिप्रेक्ष्य में कुछ प्रसिद्ध शैवाचार्यो के उल्लेख मिलते हैं जिनमें "पर्यन्त–पञ्चाशिका" उसकी रचना के रूप में स्पष्ट प्रमाणित होती है जैसे –

1– " श्रीमानभिनवगुप्तनाथसूर्यः ।"(गु0परा0, 5/4)

2– " सत्संवित्समयमहोदधिकल्पवृक्षानाचार्याभिनवगुप्तनाथपादान् "।(म0म0, 202)

(क) अभिनवगुप्त की अपनी शिष्य परम्परा में मधुराजयोगि का नाम शैवाचार्यो के रूप में बड़े आदर से लिया जाता हे । इनकी सारगर्भित कतिपय रचनाएँ हैं, जिनमें से अपने गुरू की स्तुति में लिखा गया "गुरूनाथ परामर्श" अति प्रसिद्ध है । इसमें उन्होंने अपने गुरू के प्रति परमादरभाव व्यक्त करते हुए उनके व्यक्तित्व के सभी पक्षों को उभारने का सफल प्रयास किया है । इस अमूल्य रचना में उन्होंने "पर्यन्त–पञ्चाशिका" के सम्बन्ध में स्पष्ट उललेख करते हुए कहा है कि यह उनके परम कारूणिक, सद्गुरू अभिनवगुप्त जनसाधारण को भी "अध्यनय" रूपी महान् सम्पद् (परमात्मा) की प्राप्ति का पथ प्रदर्शित करने हेतु इसकी रचना की है ।[1]

(ख) महान् शैवाचार्य महेश्वरानन्द, जिनको गोरक्षनाथ भी कहा गया हे, ने अपनी अद्वितीयरचना "महार्थ–मञ्जरी" जोकि उनको पराभगवती ने सिद्धयोगिनी के रूप में स्वप्न में उपदिष्ट की थी तथा जो अद्वैतमत की अमूल्य सम्पदा है, में कतिपय स्थलों पर अपने तथ्यों की पुष्टि के लिए उन्होंने "पर्यन्त–पञ्चाशिका" से उद्धृत करते हुए उसको स्पष्ट रूप से अभिनव गुप्त की रचना बताया है । व पञ्चाशिका के उदाहरण भी दिए हैं ।[2]

1– "पर्यन्तसम्पदुपपादनकल्पवल्ली,
पञ्चाशिका परमकारूणिकेन येन ।
प्रोक्ता निजाध्यनये जनतां नियोक्तुं
तस्मै नमोऽभिनवगुप्तगुरूत्तमाय ।।"(गु0परा0,8)

2– "शुद्धिर्बहिष्कृतार्थानां स्वाहन्तायां निमज्जनम् ।।"(म0मं0,पृ0,44–5)
"तांस्वसंविदमाविश्य विकल्पान्न विकल्पयेत् ।।"(वही,पृ0 49)
"कला विद्या पदं प्राप्य भेदोद्भेदे पुनर्भवेत् ।।"(वही,पृ050)

(ग) इसी प्रकार डा0वी राघवन ने भी मद्रास राजकीय आरियण्टल पुस्तकालय से प्राप्त ग्रन्थसूचि में उक्त कृति की आचार्य अभिनवगुप्त की रचनाओं में गणना की थी और सौभाग्य से इसको सर्वप्रथम इसका संस्करण करके प्रकाश में लाने का 1952 ई0 में पुनीत कार्य किया[1]

(घ) इसी प्रकार से डॉ0 वी राघवन ने ही एक अन्य ग्रन्थसूचि, जोकि त्रावनकोर विश्वविद्यालय पाण्डुलिपि पुस्तकालय से प्राप्त हुई है, व जो मलयालम लिपि में भी, उसमें भी "पर्यन्त–पञ्चाशिका" की आचार्य अभिनवगुप्त की कृति के रूप में पुष्टि होती है[2]।

इस प्रकार से उक्त साक्ष्यों के आधार पर यह सुस्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि "पर्यन्त–पञ्चाशिका" महामाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्तपाद की ही एक अप्रतिम कृति है, जिसमें उन्होंने संक्षेप में त्रिक् दर्शन के मूल सिद्धान्तों का संग्रह किया है ।

1- "Madras Govt. oriential library (NO.19.3)"
(Prayant a Panchāsikā भू० p.1)

2- "In 1948 I was fortunate to discover a manuscript of this New work of Abhinavgupta in the collection in the Travancore University Manuscript Library, mixed up in a codex with Abhinavgupta's ..... The codes which is in Malayalam script and bears the Library NO: 1881 B is discribed under NO: 1127 B of the Curator's office Discriptive Catalouge, Trivandrum--I Secured a transcript of the Prayanta Pancāsikā"
(भू० p.6)

तृतीयाध्यायः –

"पर्यन्त–पञ्चाशिका" में प्रतिपादित मत–विषयक आलोचन

"पर्यन्त–पञ्चाशिका" में प्रतिपादित मत विषयक आलोचन

पूर्वध्याय में कथित किया जा चुका है कि "पर्यन्त–पञ्चाशिका" शिवाद्वयनय के सिद्धान्तों की संक्षिप्त सूत्ररूप संग्रहात्मक कृति है । इसी तथ्य का दिग्दर्शन करा देना भी परमावश्यक व युकित संगत होगा । क्योंकि बिना सिद्धान्तों के दिग्दर्शन के "पर्यन्तपञ्चाशिका" के निहितार्थ को हृदयङ्गम करना दुस्साध्य होगा ।

आचार्य अभिनवगुप्त ने "पर्यन्त – पञ्चाशिका" में जिस शिवाद्वयनय की अभिव्यञ्जना की है, वह उसे प्रत्यभिज्ञादि प्रस्थानों से किञ्चित् भिन्नता लक्षित करता है, तदपि अनेक स्थलों पर साम्यता भी द्योतित होती है । इन्हीं भिन्नता व साम्य के स्थलों का दिग्दर्शन निम्नलिखित रूप से किया जा रहा है –

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकार उत्पलाचार्य ने अपनी कारिकाओं में "छत्तीस" तत्त्वों का ही विवेचन किया है, जबकि अभिनवगुप्त ने "पञ्चाशिका" में "सैंतीस" तत्त्वों की सिद्धि की है । क्योंकि उत्पालचार्य ने शिवतत्त्व को ही सर्वोपरि तत्त्व सिद्ध किया है, जबकि अभिनवगुप्तपाद ने "अनुत्तरभैरव" व "अनाश्रित शिव" रूपी विभाजन करके उत्पलाचार्योक्त "शिवतत्त्व" को "अनाश्रित शिव" में ही अन्तर्भावित किया है[1] । तथा तदुत्तीर्ण "अनुत्तर परमभैरव" को ही सर्वोपरि माना है ।[2]

1– " चित्स्वाभावाव्यादसौ देव स्वात्मना विमृशन् पुभुः ।
अनाश्रितादि – भूम्यन्ता भूमिकाः प्रातिपद्यते ।।" (प०पं०श्लोक, 6)

2– " स एव भैरवो देव सर्वे देवाश्च यन्मयाः ।
सैव भैरवी सत्ता असत्तपि च यन्मयी ।।" (तदेव,श्लोक 2)

सिद्ध वसुगुप्त की शिष्य परम्परा में अद्वैत शैव परम्परा के प्रकाण्ड विद्वान् भास्कर ने अपनी प्रसिद्ध रचना "ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी" के भाष्य (भास्करी) में उपर्युक्त तथ्यों पर पर्याप्त प्रकाश डाला है, जिसमें उन्होंने स्पष्ट रूप से उत्पलाचार्य कृत "ईश्वरप्रत्यभिज्ञा कारिका" के "आगमाधिकार" के मंगलाचरण श्लोक के आधिकृत्य से 37 तत्त्वों की अपेक्षा 36 तत्वों को ही मान्य सिद्ध किया है ।[1]

परन्तु वहीं उन्होंने उत्पलाचार्य कृत "ईश्वर प्रत्यभिज्ञाकारिका" पर रचित महामाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त की "विमर्शिनी" के साक्ष्य से 37 तत्वों की मान्यता सिद्ध की है।[2]

इस प्रकार से पर्यन्त पञ्चाशिका में अधिकांशतः कुलमत का ही प्राधान्य दर्शित होता है, जोकि आचार्य अभिनव गुप्त ने अपने कौलगुरू शम्भूनाथ से प्राप्त किया था । क्योंकि उत्पलाचार्य को प्रत्यभिज्ञा प्रस्थान प्रतिपादित तथ्यों का सामञ्जस्य पूर्णरूप से "पर्यन्त–पञ्चाशिका" में स्थापित नहीं होता ।

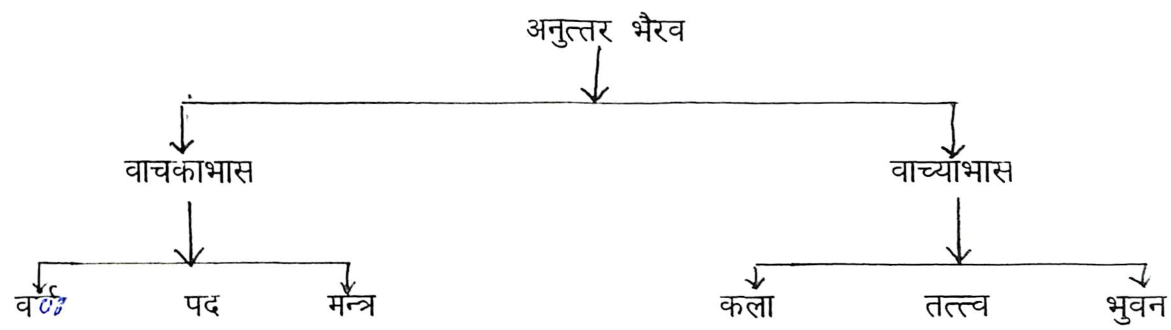
जैसे – आचार्य उत्पल ने वाचक – वाच्यात्म दो प्रकार के आभासों को "षडध्व" के रूप में स्वीकार न करके केवल "वाच्य" नामक आभास में ही अन्तर्भावित माना है । इस

1– "किन्त्वान्तरदशोद्रेकात –सादाख्यं तत्वमादितः ।
बहिर्भावपरत्वे तु परतः पारमेश्वरम् ।।"
(भा0भा021, पृ0211–12, ई0प्र0का0,पृ02)

2– "निराशंसात्पूर्णादहमिति पुराभासयति यद्,
द्विशाखामाशास्ते तदनु च विभङ्क्तुं निजाम् कलाम ।
स्वरूपादुन्मेषप्रसरणनिमेषस्थितिजुषस् ।
तदद्वैतं बन्दे परमशिवशक्त्यात्यनिखिलम् ।।" (ई0प्र0वि0मं0ज्ञा0,श्लोक 1)

तथ्य की पुष्टि भाष्कराचार्य की "भास्करी" भाष्य से स्पष्ट होता है ।[1]

परन्तु "पर्यन्त – पञ्चाशिका" में आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने "वाचक–वाच्य" नामक द्विविध भेदों में ही "षडध्व" की गणना की है और उन्हें मात्र वाच्य नामक आभास में ही नहीं गिना है । जैसे कि निम्नतालिका से यह भेद स्पष्ट हो जाता है –



इस उक्त भिन्नता के साथ ही अन्य बिन्दु भी मिलते हैं, जो "पर्यन्त–पञ्चाशिका" में प्रतिपादित मत का प्रत्यभिज्ञा व क्रम मतों से पार्थक्य द्योतित करते हैं, तथा "पञ्चाशिका" कुलमत सम्मत प्रस्थान है, इसे भी सिद्ध करते हैं ।

1– ''यथा प्रत्यभिज्ञादिरूपेषु प्रक्रियाशास्त्रेषु तत्त्वस्वरूपकथनमात्रमेवेष्टम् ।।''

(भा0भा020, पृ0212)

जैसे – "पर्यन्त–पञ्चाशिका" में कहा है कि अनुत्तर व विसर्गात्मरूपी द्विधा यामलभावरूपी शिव–शक्त्यात्मक संघट्ट से ही समस्त अन्य शकितयों की उत्पत्ति होती है ।[1]

इस "अकुल" न "कौलिकी" शब्द से कहे जाने वाले शिव शकित" का जो यामलरूप है, उसे ही संघट्ट कहते हैं । वही आनन्दशक्ति कही जाती है, जिससे विश्व की रचना होती है ।[2] "श्री परात्रिंशिका विवरण" भाष्य में भी आचार्य अभिनवगुप्त इस विषय में तथ्योद्घाटन करते हुए कहते हैं कि –

यह सम्पर्ण "पञ्चाशत्" वर्णमयी परावाक् ही शैवागमोक्त "सदाशिवादि– भूम्यन्त" 36 तत्त्वों की सृष्टि करती है ।[3]

वर्ण	तत्त्व
"अ कार" से विसर्ग "अ:" पर्यन्त	शिवतत्त्व
क, ख, ग, घ, ङ	धरा, जल, तेज, वायु, नभ
च, छ, ज, झ, ञ	गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द
ट, ठ, ड, ढ, ण	पाद, उपस्य, पाणि, पायु, वाक्
त, थ0द0ध, न	घ्राण, रसना, चक्षु, त्वचा, श्रोत्र
प, फ, ब0भ, म	मन, बुद्धि, अहंकार, प्रकृति, पुरूष
य, र, ल, व	राग, विद्या, कला, नियाते, काल
श, ष, स, ह	माया, शुद्धविद्या, ईश्वर, सदाशिव शिव

1– " अनुत्तरविर्गात्म विश्रमोदययामलम् । संघट्ट शिवशक्त्योस्तदन्तरेणान्यशक्तयः । ।" (प0पं0,श्लोक 30)

2– "तयोर्थद्यामलंरूपं स संघट्ट इति स्मृतः । आनन्दशक्ति सैवोक्त यतोविश्वं विसृज्यते । ।" (तं0आ0 3/68)

3– " अकाशादि विसर्गान्तं शिवतत्त्वम् ... अभ्लिमानयन्ति इति धारणानि ।" (परा0त्रिंवि0, पृ0 113)

इसी क्रम को "पर्यन्त–पञ्चाशिका" में आगे बढ़ाते हुए, आचार्य यह स्पष्ट ही उल्लेख करते हैं कि इस उक्त प्रकार की "वाग् व्याप्ति" के जानने वाले विद्वान् को उन–उन कवर्गादि वर्गो की अधिष्ठात्री शक्तियाँ, जिन्हें माहेश्वर्यादि देवियाँ कहा जाता है, कदापि जाग्रत–अवस्था में भी नहीं छोड़ती ।[1] श्रीतन्त्रसद्भावानुसार भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि इन्हीं शक्तियों के युक्त वियुक्त होने से ही नौवर्गो की रचना होती है, इसी लिए इस "परावाक्" को नवधा व नवर्गोपलक्षिता भी कहा जाता है ।[2]

शिवसूत्रानुसार

कवर्गादि अधिष्ठात्री शक्तियाँ मातृकाएँ कहीं जाती हैं[3] । जो पशुओं (जीवों) पर नियन्त्रण रखती हैं । तथा – वह परावाक् प्रसार करती हुई इच्छा, ज्ञान, क्रियारूपा होकर बीज–योनि–वर्गादि रूपा होकर, शिवशकित माहेश्वर्यादि रूप में 'अकार' से लेकर 'क्षकार' वर्ण पर्यन्त मातृकारूपा होकर, सभी प्रमाताओं में अविकल्प व सविकल्प की संवेदन दशाओं में, अन्तः परामर्शात्मिका होकर स्थूल–सूक्ष्मशब्द के द्वारा अनुसंघान करते हुए, वर्ग–वर्ग्यादि की अधिष्ठात् देवता होकर दर्प–राग–भयानक प्रपञ्च को प्रकाशित करती हुई, असंकुचित

1– "इति वाग्व्याप्ति विद्वासमेत दुर्गाधिदेवताः ।
माहेश्वरीप्रमुखा देव्यो जागेरऽपि न मुञ्चते ।।" (प0पं0श्लोक, 49)

2– आभ्यो युक्तावियुक्ताभ्यः संजातो नववर्गकः ।
नवधा च स्मृता सा तु नववर्गोपलक्षिता ।।(श्री0तं0सद्016, उद्ध, शि0सू0वि0पृ090)

3– "कवर्गादिषु माहेश्वर्याद्याः पशुमातरः ।" (शि0सू0, 3/19)

परतन्त्र देहादिमयी हो जाती है ।[1]

अतएव उक्त प्रकार की वस्तु के दर्शन अथवा सिद्धान्त के दर्शन प्रत्यभिज्ञा प्रस्थान में नहीं होते । यह उक्त अकारादि वर्णो का तात्त्विक वस्तु संकेत परक स्वरूप कुलमत का विशेष वैशिष्ट्य है, जोकि उसे अन्य प्रस्थानों (प्रत्यभिज्ञा व क्रम) से भिन्न करता है । "पर्यन्त–पञ्चाशिका" में भी इसी "कुलमत" के तथ्यों का संग्रहण किया गया है । अतएव यही उसे "कौलमतपरक" सिद्ध करता है ।

"पर्यन्त–पञ्चाशिका" में कुलमत के स्वरूप के आसूत्रण के साथ ही आचार्य अभिनवगुपत ने साक्षात्कार वा आत्मानुभूति के उपायों के विषय में भी कुल पद्धति का ही प्रकथन किया है । उन्होंने "पर्यन्त– पञ्चाशिका" में कहा है – आत्मतत्त्व अथवा परमसत् तत्त्व किस उपाय से साक्षात् किया जा सकता है, जिसके अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं, उसे "अनन्योपाय अथवा आत्मोपाय भी कहा है ।[2]

यहाँ आत्मोपाय व अनन्योपाय का कथनकर आचार्य ने उत्पलाचार्य कथित "अनुपाय" को भी प्रदर्शित किया है, जिसका प्रतिपादन एकमात्र उन्होंने ही किया था । आचार्य उत्पल के अनुपाय का समन्वय करके अग्रिम श्लोक में आत्मोपाय की प्रक्रिया का प्रदर्शन करते हुए स्वात्मानुभूति के उपाय विषयक संशया को स्थिरता प्रदान करते हैं तथा अपनी अप्रतिम कृति तन्त्रालोक में प्रतिपादित शांभवोपाय के वैशिष्ट्य से संवलित करते हैं ।[3] "पञ्चाशिका" में भी

1– "परावाक् प्रसरन्ती इच्छा–ज्ञान – क्रियारूपतांश्रित्वा....
देहादिभयत्वयापादयते ।"(शि०सू० 3/19, पृ० 171)

2– "किमुपायमिदं तत्त्वं यतोऽन्यन्नैव संभावे ।
अनन्योपायमेतदात्मोपायं प्रचक्षते ।"(प०पं०श्लोक 20)

3– द्रष्टव्य(तं०आ०,2/295–8)

वे कहते हैं कि चारों ओर से अपनी चेतना को खींचकर केवल "अहम्" इसी पद के अनुसंधान में लगाते हुए अपनी स्वात्म अविकल्पित चेतना को साधक प्राप्त कर लेता है ।[1] पर्यन्त–पञ्चाशिका के इस कौलिकपरकता की पुष्टि शिवसूत्र व शिवसूत्रविमर्शिनी से भी होती है ।

परमानन्दस्वरूप पराशक्ति के अनुसंधान से मन्त्रवीर्य का अनुभव होता है ।[2] पराभट्टारिका परावाक् संवित् ही इच्छा शक्ति की प्रमुखता से स्थूलमेय पदार्थपर्यन्त विश्व को रचती है, और खेचरी आदि अशेष वाह की प्रवर्तकत्व, स्वच्छत्व, अनावृतत्व–गभीरत्वादि धर्मो के योग होने से महाह्रद कही जाती है । उसके अनुसन्धान से अर्थात् अन्तर्मुखतया सुखपूर्वक उसके साथ तादात्म्यसम्बन्ध का विमर्शन करने से, कहे जाने वाले शब्दराशिस्फारात्मक परा हन्ता विमर्श का अनुभव अपनी आत्मा के स्फुरण के रूप में होता है[3] तथा खेचर्यादि चतुस्स्रोतवाह से पूर्ण महाह्रद में व्योमेश्वरी आत्मचिति में अवगाहन करके जड़ तत्व को उसमें डुबो देना चाहिए ।[4]

इसी के समान पर्यन्त – पञ्चाशिका में भी आचार्य ने जिसे मन्त्रीवाक्, एकवारवहा, परावाक्, चितिपरा शुद्धकर्तृता कहा है, जिसने अनन्त अर्थो को अपनी आत्मा में छिपा रक्खा है वही उक्त "अहम्" इस पद के द्वारा अनुसंधान करने योग्य है ऐसा कहकर स्पष्ट किया है ।[5]

1– "संहृत्य सर्वतश्चिन्तां अहमित्यनुशीलनयन् ।
अविकल्पां स्वसंवित्तिं प्रत्यक्षां प्रतिपद्यते ।।" (प0पं0श्लोक, 21)

2– "महाह्रदानुसंधानान्मन्त्रवीर्यानुभवः। (शि0सू0, 1/22)

3– "पराभट्टारिका संवित् इच्छा शक्ति प्रमुखं स्थलमेयपर्यन्तं विश्वंवमन्ती ...
स्वात्मरूपतया स्फुरणं भवति ।।" (शि0सू0वि0पृ0 78)

4– "खेचर्यादिचतुस्स्रोतोवाहपूर्णा ... ब्रोडयेज्जडम्।।" (प0पं0,23)

5– " अन्तर्लीनानन्तार्थस्वात्मामर्शिचितिपरा .... वाक् शुद्ध कर्तृता।। (प0पं0,श्लोक213)

आचार्य ने इसी तथ्य को परात्रिंशिका विवरण में भी संवलित किया है, कि जो अपने आत्मस्वरूप का आमर्शन या अनुसन्धान है वह परावाक् का शरीर है । अतएव परावाक् का अनुशीलन ही आत्मोपाय के लिए सिद्ध होता है ।[1] "पर्यन्त – पञ्चाशिका" में आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा पराभगवती के प्रयुक्त पारिभाषिक तिवहा, त्रिपथं, त्रिस्था, कालकार्षिणी कुलमत को दर्शाते हैं । उक्त विषय को और अधिक स्पष्ट करते हुये उसकी कुलमतपरकता सिद्ध की है ।[2]

यह वर्णन प्रतयभिज्ञा दर्शन में प्राप्त नहीं होता , जिससे पर्यन्त–पञ्चाशिका कुलमत की पोषिका कृति है, यह सिद्ध होता है ।

1– '' स्वरूपामर्शनं यच्च तदेव परवाग्वपुः ।।'' (परा0त्रि0वि0टी0,पृ0213)

2– '' त्रिवहं त्रिपथं त्रिस्थं कालं सा कर्षति स्वतः ।

बहिस्ततश्चात्मनीति श्री पराकालकर्षिणी ।।''

(प0पं0,श्लोक 42)

चतुर्थोऽध्यायः –

"पर्यन्त–पञ्चाशिका" का वर्ण्य–विषय

(क) भैरवी

(ख) भैरव

(ग) षडध्वा

(घ) साधारणी सृष्टि

(ङ) सृष्टि प्रक्रिया

(च) जीवस्वरूप

(छ) स्वानुभूति के उपाय

(ज) बन्ध–मोक्ष

पर्यन्त– पञ्चाशिका का वर्ण्य– विषय

कश्मीर शैवागम के अप्रतिम प्रस्थान प्रवर्तक महान् व अद्वितीय महामाहेश्वराचार्य श्रीमदभिनवगुप्तपाद की सूक्ष्म व संक्षिप्त सारगर्भित कृति "पर्यन्त पञ्चाशिका" क्रम, कौल व प्रत्यभिज्ञानय की संग्रहात्मक सूत्ररूप रचना है और इसके माध्यम से आचार्य ने सभी दार्शनिक प्रस्थानों के सारतत्त्व का तथा शैवागम व शाक्तागम के सामञ्जस्य द्वारा शिवाद्वयनय का प्रकाशन किया है ।

नामकरण

जीवन के व्यावहारिक व पारमार्थिक स्वरूप का युक्तियुक्त, सारभूत, संक्षिप्त व प्रामाणिक प्रतिपादन इस कृति की अन्यतम विशेषता है । कृति के नामकरण द्वारा भी यही संकेत आचार्य पाद प्रदान करते हैं कि (वाचक, शब्द और अर्थ का संघट्ट स्वरूप वर्णराशिमय, अकारदि – क्षकारान्त पञ्चाशत[1] वर्ण विभाग से अवस्थित शुद्ध आत्म स्वरूप परावाक् ही पञ्चाशिका है, और वही समस्त जड़ चेतन, व्यक्ताव्यक्त, सदसद् जगत् का पर्यन्त अर्थात् प्रतिष्ठाधाम वा स्थान है[2] । "पर्यन्त" पद के अन्य अर्थ अवधि निश्चय ज्ञान व प्रान्तवर्ती होना भी है। जैसे– पर्यन्तों के भी परे जो दूसरी भूमि में रहता है, उससे भी परे की अवधि पर्यन्त

1– "अकारादि क्षकरान्ता स्थिता पञ्चाशत् भिदा ।"

(शि0सू0 2/31, पृ0 91)

2– "परः प्रतिष्ठास्थानम् शुद्ध आत्मा परावाग्रूपः ,

तेषामपि आत्मनां निष्ठास्थानम् पर्यन्तः – विश्रामस्थानम् ।।"

(म0प्र0श्लोक 4, पृ0 13)

है[1]। पदार्थो के सद् व असद् भाव में "यह नीला है, यह पीला है" इस प्रकार प्रत्येक वस्तु व कम्र की व्यवस्था में "यह इस प्रकार" का है " यह जो निश्चयात्मक ज्ञान होता है, वह भी पर्यन्त है[2]। उसके आगे 36 भेदों में जो पहली भूमिका वाला वा पहले प्रान्त वा भाग में रहने वाला है, वह भी 'पर्यन्त' कहलाता है, नवचक्रसम्प्रदाय भी इसे ही महार्थ भी कहता है[3]

अतएव "पर्यन्त पञ्चाशिका" पञ्चाशत् वर्णो की जो परम व चरम पराकाष्ठा है, उसी भैरवातमक तत्त्व का प्रकाशन संक्षिप्त व प्रामाणिक रूप से करती है । यही पर्यन्तधाम में अवस्थित पञ्चाशत वर्णराशि दृश्यमान जड़ – चेतन जगत् के रूप में अभिव्यक्त होती है और प्रत्येक वर्णादि से शैवागमोक्त 36 तत्त्वों तथा उनसे पुनः अनन्त जागतिक पदार्थो का आविर्भाव होता है । यही मुख्य प्रतिपाद्य विषय इस कृति का है तथा आनुषङ्गिक रूप से कुल, क्रम व प्रत्यभिज्ञानय तथा चरमपुरूषार्थ मोक्ष का यथोचित वर्णन क्रमावश्यकतानुसार किया है ।

पूर्व कहा जा चुका है कि महामाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त ने सभी दार्शनिक प्रस्थानों के संकलित सारतत्त्व के प्रकाशन को ही इस कृति में अधिमान दिया है । शिवाद्वयनय के साथ ही साथ शिव–शक्त्यद्वयनय का भी सुन्दर गुम्फन किया है । प्रकाशात्मक शिव तत्त्व की पुष्टि हेतु विमर्शात्मक शकित तत्त्व की ही अधिक प्रस्तुति वास्तविक व साम्प्रदायिक परम्परा

1– "पर्यन्तानां यः परो द्वितीयभूमिकाधिशायीतस्यापि परस्य यः पर्यन्तः अवधिः प्रतिष्ठा स्थानम्"–(म0प्र0,पृ012)

2– "पदार्थानां सदसद्भावे इदं नीलं इदंपीतं इति प्रतिकर्म व्यवस्थायां "इदामित्थम्" इति निश्चय ज्ञानं पर्यन्तः"।(म0प्र0,पृ0 13)

3– "ततोऽपि षट्त्रिंशद्भेदभिन्नाद्यः पर्यन्तः प्रान्तवर्ती नवचक्रसम्प्रदाय सोऽयम् महार्थः" (म0प्र0, पृ0 15)

के निर्वाह हेतु की गई है, क्योंकि शक्ति के विना शक्तिमान् का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं किया जा सकता । इसीलिए ललिता सहस्रनाम में शक्ति को ही शिवज्ञानप्रदायिनी कहा गया है ।[1] यही भाव सौन्दर्य लहरी में भी आदिशंकराचार्य द्वारा अभिव्यक्त किया है, जिस के अनुसार शक्ति के बिना शिव किमपि कार्यकरने में भी समर्थ नहीं हो सकते हैं, स्पन्दात्मिका शक्ति से समर्थ होकर ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी अपने सृष्टि, स्थिति व संहार रूप कार्य में शक्त होते हैं ।[2]

ललिता सहस्रनाम में इसे ही – आदिशक्ति, अमेयात्मा, परमा, पावनाकृति, अनेककोटि ब्रह्माण्ड की जननी व दिव्यविग्रह धारण करने वाली भी कहा जाता है[3] । वैदिक मन्त्र साहित्य से लेकर, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्. पुराण, स्मृति, आख्यान, उपाख्यानों के द्वारा इसी पर्वोक्त महाशक्ति की ही अभिव्यञ्जना व स्तुति की जाती है । यह शक्ति वन्दन की परम्परा प्राचीन भारतीयपरम्परा है और सृष्टि के आदि से लेकर सभी देव – देवताओं, ऋषि–मुनियों ने इसकी आराधना करके ही स्वयं को कृत–कृत्य किया। इस तथ्य का प्रकाशन भी भगवती श्रुति स्वयं ही करती है कि मैं "देवताओं व मनुष्यों के द्वारा पूजी जाती हूँ और जिस – जिस भी मनुष्य या देवता को चाहती हूँ उसे उसे ही ऋषि–ब्रह्मत्व व सुन्दर बुद्धि देकर कृतार्थ करती हूँ ।[4]

1– "सनकादिसमाराध्या शिवज्ञानप्रदायिनी ।" (श्री०ल०सं०पृ०184)

2– "शिवशक्त्यायुक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ।" (सौं०ल०, श्लोक० 1)

3– "आदिशक्तिरमेयात्मा परमा पावनाकृतिः ।
अनेककोटिब्रह्माण्डजननी दिव्यविग्रहा ।" (श्री ल०सं०15–4, पृ०481–82)

4– "अहं स्वयमेव इदं वदामि जुष्टं देवेभिरुतमानुषेभिः ।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तमृषिं तं ब्रह्माणं तं सुमेधाम् ।" (ऋ०वे०, वा०सू०,8)

इसी वैदिक परम्परा का निर्वाह आचार्य अभिनवगुपत ने अपनी कृति "पर्यन्त–पञ्चाशिका" के प्रारम्भ में ही किया है, यद्यपि उन्होंने "वाक्" पद का प्रयोग किया है, तदपि यह वैदिक वाक सूकत उक्त तथ्य तथा परावाक् का परामर्श सहज ही करता है[1]। प्रस्तुत कृति में इसे ही उन्होंने "भैरवी" पद के द्वारा भी अभिहित किया है[2]। अतएव "पर्यन्त–पञ्चाशिका" की रचना किन सैद्धान्तिक" तत्वों के आधार पर की गई है ? उनका त्रिक्प्रस्थान में वा आगम ग्रन्थों में क्या स्वरूप हे ? वे किस प्रकार से "पञ्चाशिका" में निहित हैं ? इसी विषयवस्तु सम्बन्धी प्रकरण का निम्न प्रकाशन किया जा रहा है , जिससे "पर्यन्त – पञ्चाशिका" का तात्पर्यार्थ व निहितार्थ सम्यक् प्रतिपादित हो ।

<u>भैरवी–</u>

प्रस्तुत कृति "पर्यन्त – पञ्चाशिका" में आगमोक्त शिव–शक्ति आदि तत्त्वों का भी सूत्रण किया गया है और शैवागम के अन्तरङ्ग अर्थ को जानने के लिए ही इनका प्रयोजन होता है । यद्यपि शिव – शक्ति तत्त्व का ही अनेक पर्यायों में प्रयोग किया जाता है व उनके तादात्म्य सम्बन्ध की सिद्धि भी की जाती है, तदपि तात्त्विक विवेचना के अवसर पर उनके पार्थक्य का प्रतिपादन सभी दार्शनिक प्रस्थानों का मुख्य लक्ष्य रहा है । एवञ्च इसी स्थल पर सर्वाधिक विप्रतिपत्तियाँ उत्पन्न हुई हैं । अतएव इन्हीं विप्रतिपत्तियों को ध्यान में रखकर

1– "आद्यन्तर्गतानन्तशक्ति विश्रान्तिः निर्भराम्
अनुच्चार्यामहं वन्दे वाचम् हृदयम् विभोः ।।" (प0पं0श्लोक 1)

2– "सैवासौ भैरवी सत्ता असत्तापि च यन्मयी ।" (तदेव श्लोक 2)

आचार्य अभिनव ने एक सर्वतन्त्र स्वतन्त्र सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए रहस्यागमोक्त गुह्य अर्थ का प्रकाशन "पर्यन्त - पञ्चाशिका" में सूत्रित किया है तथा वह शिव–शकित तत्त्व के पार्थक्य व ऐक्य के सम्बन्ध को अत्यन्त स्पष्ट व तर्क संगत स्वरूप प्रदान करता है । इसी पार्थक्य व ऐक्य की आन्तरिक विवक्षा के कारण आचार्य अभिनव प्रथम शक्ति की विवक्षा द्वारा शक्तितत्व का कथन "परावाक्" के रूप में करते हुए आगमोक्त "पराशक्तिरूपी" "वाक्" तत्त्व का स्वरूप दर्शाते हैं । आगम ग्रन्थों में भी इसी "परावाक्" तत्त्व को भैरवी कहकर सम्बोधित किया गया है ।[1]

यह आगमग्रन्थों की साधारण प्रक्रिया है कि वे विशेष पारिभाषिक सांकेतिक पदों के द्वारा ही अपने वर्ण्य – विषय के प्रतिपादन में उन्मुख व सन्नद्ध होते हैं और जब तक उन पारिभाषिक पदों के अर्थों का सम्यगालोचन नहीं हो जाता तब तक उनका वास्तविक अर्थ प्रकाशित नहीं होता ।

प्रस्तुत कृति भी जो महामाहेश्वराचार्य की रचना है व उक्त पारिभाषिक पदों के प्रचूर प्रयोगों से अलङ्कृत है तथा कुल, क्रम, व प्रत्यभिज्ञानय की संकलन स्वरूप है, तो उन्हीं पारिभाषिक पदों के आधार पर ही उसका यथार्थ निर्धारण कर सकते हैं ? इससे आचार्य ने कुलादि तीनों प्रस्थानों से मूलार्थ एकत्रित करके सूत्र रूप में गुम्फित किए हैं ।

1– "भानुमण्डलमध्यस्था भैरवी भगमालिनी ।"

(श्री0ल0स0 275–77, श्री वि0र0,पृ0 475)

सर्वप्रथम हम भैरवी पद के सम्यक् आचार्य अभिनवगुप्ताभिमत अर्थ का ही प्रतिपादन करते हैं । आचार्य शिवशक्त्यात्मक उभयविध तत्व के आधारभूत तत्व को "अनुत्तर भैरव" के रूप में प्रतिपादित करते हैं । इस अवस्था में ये दोनों शिव-शक्ति तत्त्व परस्पर अत्यन्त अनुप्रविष्ट स्थिति में रहते हैं । अतएव उनके द्वैधी भाव की अवस्थिति प्रकट नहीं रहती । परन्तु जब यह अनुत्तर भैरव" अपने स्वाभाविक उच्छलत्ता आनन्द के कारण अपनी विमर्श शक्ति की अभिव्यकित का उपक्रम करते हैं, तो उसकी विमर्शशक्ति को, जो कि "परावाक्" आदि पदों द्वारा व्यवहित होती है, "भैरवी" भी कहा जाता है । "भैरव पद की व्युत्पत्ति, भरणात्" रवणात् वमनात् "भैरव" अर्थात् समस्त विश्व में भरित होने से वा पालन करने से तथा सकलकल्पनाओं के समूह का ग्रास भक्षण करने से ही यह भैरव कहा जाता है ।[1] जिस विमर्शात्मिका स्वाभविकी शक्ति से वह परमशिव अनुत्तरभैरव यह सृष्ट्यादि कार्य सम्पादित करता है, वही भैरवी कहलाती है ।

यहां केवल, शक्ति की विवक्षा की दृष्टि से ही "भैरवी" पद व शक्तिमान् की विवक्षा से "भैरव" पद का अध्याहार किया जाता है । "ईश्वर प्रत्यभिज्ञा" कारिका में इसी भैरवी को परावाक् चिति, प्रत्यवमर्श, स्वातन्त्र्य, ऐश्वर्य, विमर्श, स्वरसोदिता, स्फुरत्ता, हृदयम्, स्पन्द आदि पदों द्वारा भी परिभाषित किया जाता है ।[2]

1- "अशेष विश्वभरितत्वात् सकलकल्पनाकुलालंकवलनमयत्वाच्च भैरवी ।"

(शि0सू0 वि0, 115, पृ030)

2- "चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता ।

स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः ।।"

"सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी ।।

सैव सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ।। "

(ई0प्र0का0 115/13-14)

उसे आचार्य ने "पञ्चाशिका" में सत्ता[1], परमागति[2], इच्छाज्ञान- क्रिया[3], हृदयम्[4], शक्ति[5], यामल[6], अनुत्तरायुतात्[7], स्ववंवित्ति[8], आत्मचिति[9] आदि पदों द्वारा वर्णित है । यह भैरवी शक्ति परावागात्मिका स्वरूप में रहकर ही जगत् की सृष्टि का बीज बनती है इसीलिए अन्य आचार्यों के शब्दों में इसे भवानी व श्रद्धा[10] भी कहा जाता है ।

यह परावाग् भैरव का "हृदय कही जाती है, जो "भैरवी" कही जाती है । यही प्रथमस्पन्द वा अपने आद्यस्पन्द में द्विधा उच्छलित होती है, अर्थात् स्पन्दन की दोलायमानता की अवस्था में दो कोटि के आयाम का अवभासन करती है ।

1- "सैव भैरवी सत्ता असत्तापि च यन्मयी" । (प०पं० श्लोक० 2)

2- .... "यत्र सा भैरवी पर्यन्ते सर्वतन्त्राणामवाच्या परमागतिः ।"(तदेव श्लोक 4)

3- "सा चिदानन्दमात्रमग्नेच्छाज्ञानसत्क्रिया" ।(तदेव,श्लोक 5)

4- "हृदयं देवदेवस्याविभागभूः" ।(तदेव,श्लोक 5)

5- "मितवृत्तिस्सती सा च शक्तिस्तमनुवर्तते ।"(तदेव,श्लोक 16)

6- "अनुत्तरविसर्गात्म विश्रमोदययामलम् ।"(तदेव,श्लोक 30)

7- "इच्छास्वरूपादुन्मेषादनुत्तरायुतम् ।"(तदेव,श्लोक 36)

8- "अविकल्पां स्वसंवित्तिं प्रत्यक्षां प्रतिपद्यते ।"(तदेव,श्लोक 21)

9- "व्योमेश्वरींमात्मचितिं विगाह्य ब्रोऽयेज्जऽम् ।"(तदेव,श्लोक 23)

10- "भवानी शंङ्.करौ वन्दे श्रद्धा विश्वासरूपिणो ।" (रा०च०मा०मं०,श्लोक 2)

यही भैरव का उभयात्मक स्पन्दन कहलाता हे । वह परमभैरव अपनी शक्ति के द्वारा सबका आश्रय होने पर भी स्वयं किसी पर आश्रित न रहने के कारण अनाश्रित भी कहा जाता है ।[1]

इस सूक्ष्मावस्था में भैरवी को शून्यमाता भी कहा जाता क्योंकि इस अवस्था में मातृभाव वा ज्ञानशक्ति का पूर्णोद्रेक न होने से वह स्वयं प्रकाश का ही दर्शन शून्यात्मकरूप में करता रहता है ।[2]

अनाश्रय को ही शून्यत्व भी कहा जाता है । परन्तु यह अवस्था शून्य कही जाने पर भी सर्वथा शून्य नहीं होती । क्योंकि कहा भी है कि "सभी धर्मो भावों से शून्य होने पर भी वस्तुतः पारमार्थिक शून्य नहीं होता ।[3]

इसी कारणात्मक भैरवी से ही वाच्य– वाचकात्म, प्रकाश–विमर्शात्मक, शब्दाथात्मक स्पन्द की सृष्टि होती है व यह जगत् प्रमाता व प्रमेय के रूप में द्विधा उद्भूत होता है । इन दोनों भैरवी के स्पन्द स्थूल, सूक्ष्म व पर क्रम से त्रिधा विभाजित होने से षड्विध होते हैं । एवञ्च वर्ण–पद–मन्त्र व कला तत्त्व भुवन के रूप में विभाजित होकर षडध्व का निर्माण करते हैं ।

इस भैरव्याख्या परावाक् स्वरूपा शक्ति का स्फार ही इस भुवन के रूप में होता है, यह समस्त जागतिक तत्त्वों का मूलाधार मातृका स्वरूप होने के कारण "पूर्णाहम्" पद से भी लक्षित की जाती है ।

1– "स्वशक्त्याश्रितस्स भगवात् तेन गीतस्त्वनाश्रितः (स्व0तं010, पृ0 22–3)

2– अनाश्रितः शून्यमाता ।"(तं0आ0, 6/43)

3– "सर्वालम्बनधर्मैश्च सर्वतत्त्वैरशेषतः ।

सर्वक्लेशाशयैः शून्यं न शून्यं परमार्थतः ।।" (परा0त्रिं, टि0, पृ0 26)

इस प्रकार उत्पलदेव ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में कहा है कि प्रकाश की आत्मविश्रान्ति ही "अहम्" भाव कही गई है[1]। "अहम्" प्रत्यवमर्श वह प्रकाशात्मक व वाणी का शरीर ही है[2]। जो प्रत्यवयशत्मिा चिति स्वरसवाहिनी परावाक् है, वही आद्यन्त प्रत्याहार वर्ण में निबद्ध होकर "अहंता" कही जाती है[3]। यह भैरवी स्वस्वभाव से ही स्वरूपविमर्शनात्मिका है तथा इसका जो यह स्वरूपामर्शन है यही "परावाक् स्वरूप है"[4]।

परात्रिंशिका के अनुसार भी यही विश्वसृष्टि की ओर उन्मुखी होने पर व्योमेश्वरी, (वामेश्वरी) खेचरी, गोचरी, दिक्चरी व भूचरी के रूप में भी भिन्न स्तरों पर अवतरित होती है प्रकाश ही स्वाभाविक अकृत्रिम् परावाक् मन्त्रवीर्यचमत्कार रूप "अहंम् पद के रूप में प्रकाशित होती है[5]।

इसी भैरवी शक्ति से ही, मायीय सांकेतिक वर्णपुञ्ज के निरूपण द्वारा अक्षरमयी सृष्टि उत्पन्न होती है। यह पचास वर्णभेदों से उपस्थित होकर प्रत्यय की जन्मदाता बनती है।[6] वह भैरवी "अकारादि" वर्ण से लेकर "क्षकार" पर्यन्त पचास भदों से भिन्न होकर स्थित रहती

---

5 .– " प्रकाशस्य हिस्वाभाविकाकृत्रिमपरवाङ्.मन्त्रवीर्य चमत्कारात्म अहमिति ।"
(परा0त्रिं0वि0, पृ055)

1 – " प्रकाशस्य आत्मविश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तितः ।"
(ई0प्र0का0वि0, 1/1/ पृ012

2 – "अहं प्रत्यवमर्शो यः प्रकाशात्मापि वाग्वपुः ।।"(ई0प्र0का0, 1/6/1)

3 – "प्रत्यवमर्शात्मासौ चितिः स्वरसवाहिनी परावाग्या ।
आद्यन्तप्रत्याहृतवर्णगणा सत्यहन्ता सा ।"(वि0पं0,पा0टि0,परा0त्रि0वि0,पृ055)

4 – "स्वं भासा स्वभावेन स्वरूपामर्शनात्मिका । स्वरूपामर्शनं यच्च तदेव परावाग्वपुः।
(परा0त्रिं0वि0,पृ0 213)

6 – "अस्मादेव तु मायीय वर्णपुञ्जान्निरूपिता मायामालम्ब्य भिन्नैव ।श्री पूर्वे सृष्टिराक्षरी पञ्चाशद्भेदसंभिन्नप्रत्ययप्रसवात्मिका।"(तदेव ,पृ0 214)

है ।[1] इसे ही "मातृका" भी कहा जाता है कि जो परम तेज से युक्त रहती है तथा समस्त चराचर विश्व में व्याप्त है ।[2]

यह पञ्चाशत वर्णात्मिका भैरव की अनन्या हृदयाख्या शक्ति ही पृथिव्यादि षट्त्रिंशत् तत्त्वों के रूप में प्रकाशित होती है व उसके ये पञ्चाशत् वर्ण ही, षटत्रिंशत् तत्त्वों की उत्पत्ति में कारण रूप में अनुस्यूत रहते हैं ।

जैसे –

पृथ्वी में 'क्षकार' ही एकमात्र वर्ण मन्त्रवर्ण के रूप में रहता है, जलादि से लेकर अव्यक्त तत्त्व पर्यन्त तत्वों में 'हकारादि' से लेकर 'टकार' पर्यनत तेइस वर्ण रहते हैं, 'पुरूष तत्त्व' से 'मायापर्यन्त' सात वर्ण तथा 'शुद्धविद्या' से लेकर 'सदाशिव पर्यन्त' तीन वर्ण इस प्रकार क्षकार से लेकर सदाशिव पर्यन्त चौंतीस वर्णों में कथित चौंतीस तत्त्वों का आविर्भाव होता है और शक्ति व शिव तत्त्व योनि व बीज रूप में मिल कर छत्तीस तत्त्वों की रचना करता है ।[3]

यहां शिव–शक्त्यात्मक बीजयोन्यात्मक तत्त्वद्वय में ही अकारादि विसर्गानत षोडशस्वरों का अर्न्तभाव होने से मूल पञ्चाशत्वर्णात्मिका भैरवी शकित का स्वरूप, जोकि भैरव की हृदयस्था है वह भी पूर्ण होता है ।

1– " अकारादिक्षकारान्त स्थिता पञ्चाशतूभिदा ।"

(तं0स0शि0सू0 213, पृ0 91)

2– " या तु सा मातृका देवि परतेजः समन्विता ।

तथा व्याप्तमिदं विश्वं स ब्रह्म भुवनान्तकम् ।।"

(तं0सा0शि0सू0 213, पृ0 90)

3– "क्षकारात् प्रभृतीति इत्थमत्रक्रमः, पृथिव्यां क्षकारमेकमेव पदमन्त्रवर्णरूपं । . . .

. . . . भवितुमर्हतीतिभावः"। (परा0त्रिं0पृ0, 120)

इस प्रकार से उक्त प्रकार से यही भैरवी शक्ति पञ्चाशत् वर्णो के द्वारा ही षट्त्रिंशत् तत्त्वों की रचना करती है । इसीलिए आचार्य अभिनवगुप्त ने सर्वप्रथम महिमाशाली 'परावाक्' को दी "पर्यन्त पञ्चाशिका " में वर्णित किया है, क्योंकि विषयवस्तु निर्देश से भी मंगलाचरण किया जाता है और 'परादेवी' का भी अभिवादन हो जाता है । अतएव कृति के "पञ्चाशिका" पद से भी उक्त पञ्चाशत् वर्णयुक्त भैरव्यात्मिका परावाक् की ही विवक्षा आचार्य को अभिमत है और उस पञ्चाशत्-वर्ण-भेदमयी एकात्मिका परावाक् का "पर्यन्त" प्रतिष्ठा स्थान क्या है ? यही कृति का प्रतिपाद्य भैरवाख्य तत्त्व भी "पर्यन्त" पद द्वारा परामर्शित किया है। अर्थात् "पर्यन्त पञ्चाशिका" का निहितार्थ भी भैरव, जो कि विश्व का परम प्रतिष्ठास्थान है, व भैरवी, जोकि विश्व की अभिव्यक्ति की मूल कारण है, का ही संकेत लक्षणाशक्ति से कराता है । अतएव यहाँ प्रतिलोम क्रम से सम्प्रदायपरम्परानुसार पूर्व में "भैरवी" का स्वरूप कथन कर भैरव के प्रकथन का उपक्रम किया जाता है ।

भैरव

महामाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्तपाद ने "पर्यन्तपञ्चाशिका" में यद्यपि संक्षेप में कुल, क्रम व प्रत्यभिज्ञा प्रस्थानों का गुम्फन किया है, तदपि कुलमत के आधार को ही अधिक समारित किया है । तभी अनेक कुलमत के सूत्रात्मक शब्दों का प्रयोग, पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग यथेच्छ किया है, और कृति निहितार्थ ज्ञान हेतु उक्त सूत्रात्मक शब्दावली का ज्ञान अपेक्षित है अतएव उसी के अनुरूप यहां क्रमप्राप्त "भैरव पद" का निहितार्थ अभिव्यक्त किया जाता है ।

यद्यपि भैरव पद के अनेक पर्याय भी हैं तदपि उन सबका अन्तर्भाव इसी एक "सूत्रात्मक पद" में होने के कारण यहाँ इसी का प्रदर्शन विशेष किया जाता है ।

"भैरव पद" की व्युत्पत्ति करने पर भरणात्, रवणात्, वमनात् इति भैरव यह पद निष्पन्न होता है । अर्थात् जिसमें विश्व का आतिर्भाव, स्थिति व तिरोभाव होता है । उस मूल तत्त्व की संज्ञा शैवागम में भैरव कही गई है । यही भाव आगमान्तरों में कहा गया है । जिससे जगत् के जन्म, स्थिति व लय होते हैं ।[1]

श्री भगवत् पुराण के अनुसार भी परमार्थ सत्ता सच्चिदानन्द रूप हैं, विश्व की उत्पत्ति, स्थिति व लय का हेतु , तथा आध्यात्मिक – आधिदैविक व आधिभौतिक तीनों तापों का नाश करने वाली है ।[2]

तथा जिससे जगत स्थिति व लय अन्वय के द्वारा होते हैं, अर्थात् वह उक्त तीनों में अनुस्यूत होकर रहता है , और जो प्रमाता के रूप में विश्व के समस्त अर्थो को जानता हे, स्वामी की तरह, ऐसा वह ब्रह्मतत्त्व , जो आदिकवि के लिए प्रपञ्च का विस्तार करता हे, जिससे धीर लोग भी मोहित हो जाते हैं, उस ब्रह्म से ही यह विश्व प्रकाशित होता है, अथवा उस ब्रह्म ने यह उत्पत्तिस्थिति लय युक्त विश्व अपनी शक्ति से अपने में ही विस्तृत किया है जिससे सभी धीर भी मोहित हो जाते हैं । [3]

इसी प्रकार "भर्तृहरि शतक" के अनुसार उक्त परमार्थ तत्त्व दिशा व काल आदि से अनवच्छिन्न , चिन्मात्रमूर्ति अपनी स्वात्मानुभूति से ही दर्शनगम्य शान्त तेज है ।[4]

1– "जन्माद्यस्य यतः"(1/1/2, ब्र0सू0)

2– "सच्चिदानन्दरूपाय विश्वोत्पत्यादिहेतवे । तापत्रयविनाशाय श्रीकृष्णाय वयं नुमः ।" (श्री0भा0पु0, 1/1/1)

3– "जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट् ।
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्तियत्सूरयः ।"। (श्री0भा0पू0मं0श्लो01/1/1)

4– "दिक्कानाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये ।
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे"।। (भृं0श0मं0श्लो01/1)

इसी प्रकार वैशेषिक सूत्र के प्रख्यात भाष्यकार न्यायकन्दली रचयिता के अनुसार चारों उत्पन्न हुए महाभूतों में महेश्वर के अभिध्यानमात्र कराने से तैजस अणुओं से जोकि पार्थिव परमाणुओं से युक्त होते हैं, महान् अण्ड (हिरण्मय) की उत्पत्ति होती है । उसमें चतुर्मुख ब्रह्मा जोकि सभी लोकों का पितामह है, उसे महेश्वर समस्त भुवनों के सहित उत्पन्न करके प्रजा कार्य में विनियुक्त करते हैं । उन महेश्वर से विनियक्त ब्रह्मा अतिशयज्ञानवैराग्यऐश्वर्य सम्पन्न होता है । और प्राणियों के कर्मफलों को जानकर कर्मानुरूप ज्ञान, भोग व आयु से युक्त अपने प्रजापति आदि पुत्रों को उत्पन्न करता है । तथा "मानसपुत्र" के रूप में मनु, देव, ऋषि व पितरों की, तथा चारों वर्णो की अनेक छोटे बड़े प्राणियों को उत्पन्न कर उन्हें कर्मानुसार, धर्म, ज्ञान, वैराग्य व ऐश्वर्य आदि गुणों से संयुक्त करते हैं ।[1]

शिवसूत्र विमर्शिनी के अनुसार परमभैरव परमशिव भी कहे जाते हैं और अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से ही विश्व के अपने परतन्त्र रखते हैं । वह स्वातन्त्र्य परमशिव (भैरव) का ही है, जोकि अनाश्रित तत्त्व पर्यन्त पदार्थों को परतन्त्र वृत्ति में रखते हैं ।[2]

तन्त्रालोक के अनुसार इस अकुल देव (भैरव) की कुल प्रथन स्वभाववाली जो कौलिकी शक्ति कही जाती है, वही पराशक्ति है, और उससे वह प्रभु (भैरव) कदापि व्यातिरिक्त नही होता ।[3]

1- " एवं समुत्पन्नेषु चतुर्षु महाभूतेषु महेश्वरस्याभिध्यानमात्रात् तैजसेभ्योऽयोऽणुभ्यो पार्थिवपरमाणुसहितेभ्यो महदण्डमारभ्यते ।........ संयोजयतीति ।"

(प्रशस्त पाद० भा०,पृ० 131)

2- " तच्च परमशिवस्यैव भगवतः अस्ति, अनाश्रितान्तानां तत्परतन्त्रवृत्तित्वात् ।"

(शि०सू०भा०वि०, पृ० 6)

3- " अकुलस्यदेवस्य कुलप्रथनशालिनी, कौलिकी सा पराशक्ति-रवियुक्ता यया प्रभुः ।"

(तं०आ०, 3/67)

तन्त्रालोक टीकाकार विवेक के अनुसार यहां वास्तव में पूर्ण भैरवतत्त्व, जोकि शिव व शक्ति के व्यपदेश (नामों) को भी सहन नहीं करता, अनाख्य परपरामर्शात्मा, अनुत्तर, प्रकाश ही परम तत्त्व कहा गया है । वही अपने स्वस्वातन्त्र्य से विश्व की अभिव्यक्ति की इच्छा से युक्त होकर सर्वप्रथम शिव व शक्ति रूप को अपनी आत्मा (चैतन्य) में अवभासित करता है ।[1]

अतएव पूर्ण, द्वैतहीन, अनाख्य, परपरामर्शात्मा, अनुत्तर, प्रकाशरूप परमतत्त्व ही भैरव सिद्ध होता है, इसी में अवस्थित होकर समस्त तत्त्व अभिव्यक्ति पाते हैं । यह परपरामर्श कदापि संकेतादि के द्वारा प्रापणीय नहीं है, क्योंकि यह अत्यन्त गुह्य स्थित तत्त्व है और चैतन्यमात्र स्वभाव होने से केवल अनुभवगम्यता ही इसका प्राण है ।[2]

अतएव वेदादि समस्त आगम निगम शास्त्र एकमत से इसकी अवाङ्.मनसगोचरता का ख्यापन करते हैं । यह आत्मा न तो प्रवचन से प्राप्त किया जा सकता है, न बुद्धि से , न बहुत शास्त्र पढ़ने से, यह तो केवल मात्र उसी को प्राप्त होता है जिसे यह वरण करता है । इसके अतिरिक्त कोई भी इसे नहीं पा सकता, यह कठोपनिषद् का वाक्य है ।[3]

'पर्यन्त पञ्चाशिका' में भी आचार्य ने कहा है कि सर्वचराचर जड़जङ्.गम जगत् को आत्म-सात् करके अवस्थित रहने के कारण ही परम भैरव कहा है,और उसी में सभी देवता स्थित हैं, सभी देव तन्मय हैं ।[4]

1- "इह खलु पूर्णः ...... अनाख्यः परपरामर्शात्मा, अनुत्तरः प्रकाश एवं परं तत्त्वं.. स्वात्मन्यवभासयति ।" (तं0लो0 वि0टी0, पृ075)

2- "स चायमामर्शो न सांकेतिक अपितु चित्स्वभावमात्र नान्तरीयकः"(तदेव,पृ074)

3- " नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुनाश्रुतेन ।
यमेष वृणुते तस्यैषलभते आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ।।" (कठो0उ0, 1/2/23)

4- "सर्वेदेवाश्च यन्मयाः "। (प0पं0,, श्लोक 0, 2)

यह सब अनुत्त्र भैरव में ही सदिच्छा द्वारा विश्व सृजित होता है और उसमें विलीन होकर पुनः पुनः उसी में सृजित होता रहता है ।[1]

अभिनव गुप्त के अनुसार यह अनुत्तर विसर्गात्मक उदित होता हुआ जो यामल है वही शिव शक्ति का संघट है और इसके मध्य में ही अन्य सभी शक्तियाँ रहती हैं ।[2]

भैरव के अनेक पर्यायों में यह "अनुत्तर" विशेष महत्वशली पर्याय है और इसीलिए आचार्य ने "पर्यन्त पञ्चाशिका" में भी इस का वर्णन किया है। तथा परात्रिंशका विवरण में भी कहा है कि वह अनुत्तर नामक जो हृदय है उसमें 16 प्रकार के ग्रन्थिरूपता रहती है, अतएव उस 16 प्रकार की ग्रन्थि को जानकर ही सुखपूर्वक कर्म करना चाहिए ।[3]

अतएव यह षोडशधा अनुत्तर भैरव जोकि हृदय में षोडशधा हृदयग्रन्थिरूप से विद्यमान रहता हे यह ज्ञातव्य है उसे ही यहाँ प्रदर्शित करते हैं । यह अनुत्तरशब्द निम्न प्रकार से षोडशधा पठित होता है ।

क) अनुत्तर, जिससे अधिक श्रेष्ठ व उत्तर कोई न हो वही 'अनुत्तर' कहलाता है । क्योंकि जिस प्रकार 36 तत्त्व पृथिवी से लेकर अनाश्रित शिपर्यन्त, पर भैरव के ज्ञान से "अनुप्रविष्ट" होने से उसी भाव में स्थित रहने पर संवित् को श्रेष्ठ या अधिक करते हैं, उस प्रकार से यह परिपूर्ण परभैरवसंवित् नहीं हैं क्योंकि वह सदा अनर्गल, अनपेक्ष प्रथा रूपी चमत्कार सार से युक्त रहती है ।[4]

1- " इयत्सर्वंसदिच्छादिद्वाशनुत्तरभैरवे । विश्राम्य विश्राम्य मुहुस्तत एव विसृज्यते ।।"
(प0पं0श्लोक 40)

2- " अनुत्तरविसर्गात्मविश्रमोदययामलम् ।
संघट्टश्शिवशक्त्योस्तदन्तरेणात्यशक्तयः ।।" (तदेव, श्लोक 30)

3- " अनुत्तरं तद्हृदयं हृदयेग्रन्थिरूपाता। ग्रन्थिं षोडशधा ज्ञात्वा कुर्यात्कर्म यथासुखम् ।"
(सार0शा0,उद्ध0परात्रिं0वि0पृ031)

4- (तदेव, पृ0 19)

(ख) यहां प्रतिप्रश्नवचनरूप शब्द न हो वही अनुत्तर कहा जाता है । क्योंकि महासंवित्सागर में जो अनन्त उल्लसित होने वाली प्रतिभाओं, शक्तियों का धाम है, उससे उल्लास प्रश्नप्रतिभान रूप शिष्य ही उत्तर का पात्र बनता है । अर्थात् उल्लास्य अवस्था में ही भेद होने के कारण संवित् में गुरू शिष्य रूप भेद होने से वह प्रश्न करने वाला पात्र बनता है । परन्तु वह अनुत्तर तत्त्व सर्वदा उदित रहने से उसमें किस प्रकार आचार्य रूप उत्तर का वक्ता भिनन हो सकता है अतएव वह तत्त्व वाङ्मनसागोचर होने के कारण भी 'अनुत्तर' कहा जाता है ।[1]

(ग) द्वैतवादियों के द्वारा जो अपवर्ग कहा जाता है वही उत्तर है, उससे जो पार न किया जाय वही 'अनुत्तर' होता है ।[2]

(घ) जो क्रमशः उत्तरण करके प्राप्त होता है, क्योंकि यह उत्तरण वास्तव में नियतिवश होता हे अतएव सीमित है, पहले शरीर से प्राण भूमि में उतरता है, पुनः बुद्धि, जीवन, शून्य, विज्ञानाकलादि भूमियों में लीन होकर शिवतत्त्व से किंचित् च्युत हो जाता है । इस प्रकार से नाभि, हृदय, कण्ठ , तालु, ब्रह्म भैरवबिलादि अधिष्ठानक्रम से उर्ध्वतरण क्रम ही 'अनुत्तर' कहलाता हे ।[3]

इस प्रकार से उत्तरण करते हैं,अतः यह बन्ध ही उत्तर है ।[4]

1- "तथा न विद्यते उत्तरं प्रश्नप्रतिवयोरूपं ....
उत्तरमन्यत् स्यात् ।" (परा0त्रिं0वि0पृ020)

2- "उत्तरणम् भेदवादाभिमतोऽपवर्गः स हि वस्तुतो नियति प्राणतां नातिक्रामति"।(तदेव,पृ020)

3- "तथाहि प्रथमं शरीरात् प्राणभुमावनुप्रतिवश्य .....
अणुरपवृज्यते आरोपव्यर्थात्वात्" (तदेव,पृ0 21)

4- "तथा उत्तरन्ति अत इति उत्तरे बन्धः"। (तदेव , पृ0 21)

जहाँ बन्ध न हो वही 'अनुत्तर' है ।

(ङ.) उत्तरनामक बन्ध का भी उत्तरण करना मोक्ष कहलाता है, जहां मोक्ष भी न हो वही 'अनुत्तर' है ।[2]

(च) उत्तर को शब्दन भी कहते हैं । जहां व्यवच्छेद न हो वही 'अनुत्तर' कहलाता है ।[3]

(छ) जहां विकल्प न हो वही 'अनुत्तर' कहा जाता है ।[4]

(ज) इस प्रकार से नर से उत्तर शाक्त और उस का उत्तर शिव, इसी प्रकार भूत तत्त्व, मन्त्र, जाग्रत अवस्था सुप्त् तुर्य, यह क्रम तथा विप्राजन्यआदि जाति विभागमय ऊँच – नीच जिस में न हो वही 'अनुत्तर' है ।[5]

(झ) पश्यन्ती आदि शक्तियॉ भी उत्तर कही जाती हैं वे सब जहां न हों वही 'अनुत्तर भैरव' है ।[6]

(ञ) दीक्षाक्रम में शिष्य के चेतन्य में गुरू स्वचैतन्य को प्रेरित करता है, जिस में यह दीक्षादि विडम्बनाएँ न हों वही 'अनुत्तर' कहलाता है ।[7]

1– "तथा उत्तरन्ति अतः इति उत्तरो बन्धः ।" (परा0त्रिं0वि0 पृ021

2– "उत्तरणमुत्तरो मोक्षः" (तदेव, पृ० 21)

3– "इदम् इत्यपि हि .... कल्पित एव .....
अविकल्पितं ..... कल्पितरूपास्फुरणात् ।" (तदेव, पृ० 21)

4– "नरात्मनः शाकमुत्तरं ततोऽपि शाम्भवं .... जाग्रत उत्तरं स्वप्नः.....
चतुरादिभेदतया उत्तरोतरत्वम् ।।" (तदेव, पृ0 23)

5– "उत्तराः पश्यन्त्याद्याः शक्तयाः ..... यत्र न स्युः" ।। (तदेव, पृ0 24)

6– "दीक्षा क्रमेण तरः शिष्यचैतन्ये ...... कथङ्कारम् इमा विडम्बनाः ?" (तदेव, पृ024)

7– " प्रेरणेन "तरः" तरणं यत्र न भवति तत् अनुत्तरम् "। (तदेव, पृ0 25)

(ठ) श्वास लेना "अन्" कहलाता है वही जीवन है "अन्" से उत्तर जो परमार्थ तत्त्व भैरवमय है, वही 'अनुत्तर' है ।[1]

(ड) "अ" यह अमायीय , अश्रौत, नैसर्गिक, कला है जो विसर्गान्त पर्यन्त प्रसार करती है वही "नुत्" है उसे के ऊपर रहना ही 'अनुत्तर' कहलाता है ।[2]

(ढ) "अनुत्" आकाशादि कहलाता है,उससे भी जो अतिशय तत्त्व है वही 'अनुत्तर' है ।[3]

(ण) अक्रमा किया जो स्वात्मविमर्शसंरम्भमयी .... विमश्च कही जाती है, वही 'अनुत्तर' है ।[4]

(त) उत्तर क्रमिक प्रतियोगी अपेक्षा जिस में न हो वही 'अनुत्तर' है ।[5]

इन उक्त षोडशाधा रूप में विभक्त 'अनुत्तरभैरव' तत्त्व का तात्त्विक विवेचन करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि वह महाप्रकाशत्म अपने ज्ञानमय स्वरूप में ही समस्त विश्व को अपने भीतर में स्थित रखते हुए , उसी से प्रसारित करता है और अपने निरतिशयस्वातन्त्र्यैश्वर्य के कारण ही उसके चमत्कार से भेद सृष्टि "ज्ञाता – ज्ञेयात्मक जगत्" का विकास करता है ।[6] क्योंकि विना प्रकाश के भावविकासरूपी प्रकाश का होना ही असम्भव होता है और यदि कोई परप्रकाशात्मक तत्त्व है, तो वह परमेश्वर भैरवभट्टारक ही हो सकता है, अन्य माया, प्रकृति, परमाणु आदि की गणना से क्या लाभ ?[7]

1– "अनिति श्वसिति इति क्विपि अन्–अणुः आत्मा देहपुर्यष्टकादिः, तस्यैव .... आधिक्यं भैरवैकमयत्वात् ।" (परा० त्रिं० वि०, पृ० 26)

2– "अ– इति च या इयम् अमायीयाश्रोत..... सर्वोपरिवृत्तित्वं यत्र तदनुत्तरम् ।" (तदेव पृ०26)

3– "अनुत्" आकाशादि लोकप्रसिद्ध्या, ततोऽपि सातिशयमनुत्तरम् ।" (तदेव, पृ० 27)

4– "अक्रमैव स्वात्मविमर्शसंरम्भमयी ...... तदेव अनुत्तरम् ।" (तदेव, पृ० 29)

5– "इह तु उत्तरक्रमिकप्रतियोग्यपेक्षायां "अनुत्तयम्" इत्यपि प्रयोगे अयमेवार्थः ।" (तदेव, पृ०30)

6– "ज्ञाता ज्ञेयरूपा भेदमयी इयं माया ।" (तदेव, पृ० 39)

7– "तदेव हि अनुत्तरम् महाप्रकाशात्म ..... इति किमपरेण वाग्जालेन ।" (तदेव, पृ०38)

अर्थात् अन्यदार्शनिक प्रस्थानों द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों से शैवागमोक्त मूल भैरवभट्टारकाख्य तत्त्व ही अधिक तर्क संगत व सटीक है, क्योंकि भैरव की शक्ति से ही जगत् की साक्षात् परम्परानुसार उत्पत्ति स्वीकार करने पर शिवाद्वयनय की स्थापना होती है, मायावाद, प्रकृतिवाद, परमाणुवाद, अदृष्टवाद, आदि का निरास हो जाता है ।

अतएव भैरवात्मक प्रकाशमय तत्त्व ही जगत् का मूल कारण सिद्ध होता है,और वही अपने स्वातन्त्र्य व "ऐश्वर्य" से जगदाकर व जगदोत्तीर्ण रूप में अवस्थित रहता है, यही उसके ऐश्वर्य व स्वातन्त्र्य क्रमशः हैं । इसी रूप का संकलन आचार्याभिनवगुप्त न भी पर्यन्त-पञ्चाशिका में "पर्यन्तसंविद्" वा "पर्यन्तसंपदः" कहकर किया है ।[1]

यह "अनुत्तरमह!" अर्थात् परमप्रकाश भी कहा है[2] । यह वाच्य वाचकात्म रूप परमप्रकाश का विभाजन प्रकाश-विमर्श, शब्द-अर्थ, नाम-रूप, वर्णपदमन्त्र-कलातत्त्वभुवन, ज्ञाता-ज्ञेय, माता-मेय, वेदक-वेद्य, शिव-शकित का ही संकेत करता है तथा अभिन्ननिमित्तोपादान कारण का उद्घोष है ।

इस उकत भैरव स्वरूप के द्वारा आचार्य ने "पर्यन्तपञ्चाशिका" में आगमोक्त "षडध्व" तत्त्व का भी प्रकाशन साररूप से किया है । यह षडध्व प्रतिपादन कौलिकागमार्थ को पुष्टि प्रदान करता है और क्रम प्रस्थान के अंशों को अनुस्यूत किए हुए प्रत्यभिज्ञाप्रस्थान से किञ्चित् पृथक्ता द्योतित करता है ।

1- "शंभोरभिन्नहृदया जयन्ति गुरवः पुरा ।
निर्व्युत्थानसमाधानप्राप्तपर्यन्तसंविदः (संपदः)" (प०पं०श्लोक०, 52)

2- "आद्यन्तान्तर्गतानन्तवाच्यवाचकनिर्भरम् ।
रहस्यं मन्त्रमुद्राणां प्रपद्येऽनुत्तरं महः ।।" (तदेव,श्लोक, 51)

षडध्व

षट्+अध्व = षडध्व अर्थात् षट– छः , अध्व = मार्ग, छः मार्गो में विभक्त तत्त्व वा वस्तु षडध्व कहलाती है । परात्रिंशका के विवरण कु अनुसार परमभैरव का प्रकाशात्मकांश शिव ही प्रमातृभाव को न त्यागते हुए वाचक होता है और प्रमेयांशावगाहिनी विमर्शात्मिका शक्ति ही वाच्या होती है । भिन्नता (जगत्) ज्ञाता–ज्ञेया, माता–मेय की दशा में भी वायक ही प्रतिपाद्य प्रतिपादक उभयरूपी प्रमातृस्वरूप से सतत युक्त ही जगत् रूप में प्रसरित होता है ।

शिवात्मक स्वरबीजरूपी फैलाव ही शाक्त व्यञ्जनरूपी योन्यात्मक भाव बनता है । क्योंकि बीज से ही योनि का फैलाव (प्रसार) होता है ।[1]

भर्तृहरि के अनुसार संसार में ऐसा कोई भी प्रत्यय वा ज्ञान नहीं है, जो शब्द के अनुगमन के बिना भी जाना जा सके, अतएव जों कुछ भी ज्ञान दिखाई पड़ता या अनुभव में आता है, वह सभी शब्द के द्वारा ही अनुविद्ध होता है ।[2]

तथा यदि ज्ञान की शाश्वती वाग् रूपता का उच्छेद हो जाए तो प्रकाश का भी प्रकाश होना असम्भव होगा, क्योंकि वही वाणी ही प्रकाश का भी प्रत्यवमर्श (ज्ञान) करवाती है ।[3]

यह जो अनादि निधन ब्रह्म है वही अक्षर शब्द तत्त्व है, जब वह अर्थ के भाव में विवर्तित होता है, तो इस जगत् की सृष्टि होती है ।[4]

1– " शिव एव प्रमातृभावमत्यजन् वाचकः स्यात्,
प्रमेयांशवगाहिनी च शक्तिरेव वाच्या, ... बीजादेव योनेः प्रसरणात् इति।।"
(परा0त्रिं0वि0, पृ0 148–149)

2– " न सो प्रत्ययोऽस्ति लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन गम्यते ।" (वा0पदी)

3– " वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती । न प्रकाश प्रकाशेत् स हि प्रत्यवमर्शिनी " (तदेव)

4– " अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरं । विर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ।" (तदेव)

एवञ्च यह जो आन्तरिक ज्ञाता है वह सूक्ष्म वाक्, परावाक् रूपी परामर्श में स्थित रहते हुए, अपने रूप का प्रकाश करने के लिए शब्द के रूप में (वाचक) परिणत वा विवर्तित होता है ।[1]

वसुगुप्त की स्पन्द कारिका के अनुसार "जो सत्य, पररूप, सूक्ष्मतम, निरवद्य व अनुत्तर परम ब्रह्म कहलाता है, वही परमशान्तब्रह्म अकारादि बर्णो के रूप में परिणत हो जाता है।"[2] महेश्वरानन्द की रचना महार्थमंजरी के अनुसार "इस परमतत्त्व की प्रापित के उपाय स्वरूप ज्ञान बहिर्जगत् व अन्तर में प्रकाशित होता है, क्योंकि ज्ञान के बिना न तो अर्थ की सत्ता ही प्रकाशित हो सकती है, व न ही जगत् । अतः जगत् ज्ञानरूप ही है । तथा ज्ञान के बिना कोई भी भावादि विषयों को अनुभव नहीं कर सकता । अतएव ज्ञान आत्मा से आने के कारण वह ज्ञानरूप में ही समाप्त होती है"।[3]

इस प्रकार से यह सहस्रशः बार कहा गया है कि परमशिव वा भैरव का ही उक्त षडध्वा के द्वारा दृश्यमान जगत् के रूप में प्रसार होता है । इसी की यह षडध्वात्मिका क्रिया किस प्रकार से प्रचलित होती है ? उसका दिग्दर्शन यहां करते हैं ।

आगमों में षडध्वा ही सर्वतन्त्रसिद्धान्त के रूप में प्रसिद्ध हैं । वे वाच्य व वाचक भेदों में ही विकसित होते हैं । यहाँ प्राथमिकी द्विविध विभागमयता से ही इनका क्रमशः विकास होता है ।

1– "अथायमान्तरोज्ञाता सूक्ष्मेवागत्मनि स्थितः ।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते ।"। (वा0पदी0,उद्धृ0स्प0का0,पृ053)

2– " सत्यं परागतं सूक्ष्मं निरवद्यमनुत्तरम् ।
अथ ब्रह्म परं शान्तमादिवर्णत्वयागतम् ।।" (तदेव,पृ0 52)

3– "तदुपायतया ज्ञानं बहिरन्तः प्रकाशते । ज्ञानादृते नार्थ सत्ता ज्ञानरूपं ततो जगत् ।।
न हि ज्ञानादृते भावाः केनचिद्विषयीकृताः ।। ज्ञानं तदात्मतयायातमेतस्मादवसीयते ।।"
(म0म0,पृ09)

यह पर भैरव की परस्परौन्मुख्यावस्था अथवा "चिदानन्द" अवस्था होती है, वही शिवशक्ति,[1] वाच्चवाचक, शब्दार्थ,[2] आदि कहलाती है । उनका परस्पर जो प्रत्येक का स्थूलसूक्ष्मपर क्रम आभास होता है, उसी से षडध्व का निर्माण होता है । अर्थात् वाच्चवर्ग व वाचकवर्ग क्रमशः कला, तत्त्व, भुवन व वर्ण, पद, मन्त्र के रूप में इन दोनों प्रकाश- विमर्शाख्य तत्त्वों का पर, सूक्ष्म व स्थूल अवस्थाओं में क्रमशः आभास होता है । इन षट् तत्त्वों का आगमानुसार विवरण निम्नप्रकार से है -

वर्ण पचास 'अ' से लेकर 'ह' तक हैं । 'पद' अनन्त होने पर भी व्योमव्यष्ट्यादि मन्त्र की मर्यादा से 'इक्क्यासी' हैं । इसी प्रकार 'मन्त्र' भी अनन्त होने पर ब्रह्मपञ्चक छः अंश होने से 'एकादश' हैं, 'कलाएँ' "निवृत्ति', 'प्रतिष्ठा', 'विद्या', 'शान्ता' व 'शान्त्यातीत' ये पाञ्च हैं । 'तत्त्व' छत्तीस शिवादि पृथिवीपर्यन्त हैं, तथा 'भुवन' दौ सौ चौबीस 'कालाग्नि रूद्र' से लेकर 'अनाश्रितान्त' हैं ।[3]

इस परावागन्तर्गत छत्तीस तत्त्वों, 81 पदों, 11 मन्त्रों, 5 कलाओं, 50 वर्णो व 224 भुवनों का वर्णन निम्न प्रकार से है ।

1- ''वागार्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्त्ये । जगतः पितरौ वन्दे पार्वतिपरमेश्वरौ ।''
(रघु0प्र0स01)

2- '' भावनी शङ्.करौ वन्दे श्रद्धा विश्वासरूपिणौ ।
याभ्यां बिना न पश्यनित सिद्धा स्वान्तस्थमीश्वरम् ।।'' (राम0मा0,मं02)

3- ''वर्णा पञ्चाशत् लोक प्रसिद्धाः ...... पदानि एकाशीतिः, मन्त्राश्च ... एकादशः
कला निवृत्त्यादयः पञ्च तत्त्वानि षट्त्रिंशत्, भुवनानि .... चतुर्विंशत्यधिकशतद्वयम्।।''
(म0मं0,पृ0 65)

परमशिव-शक्ति

वाचक		वाच्य			
वर्ण	पद	मन्त्र	कला	तत्त्व	भुवन
50	81	11	5	36	224
"क्ष"-1	28	2	निवृत्ति	पृथिवी-1	118 कालाग्निरूद्र से भद्रकाल्यान्त
"ह"से"अ"-23	21	2	प्रतिष्ठा	जल से प्रकृति-23	56 अमरेश-श्रीकण्ठ
"घ"से"ञ"-7	20	2	विद्या	पुरूष से माया-7	27 भीम-अङ्.गुष्ठ
"ग"से"ख"-3	11	2	शन्ति	शुद्धविद्धा-ई0-स0शि0-3	18 कला-सदाशिव
"अ"से"अः"-116	1	3	शान्तातीता	शिवतत्त्व-1(शक्तियुक्त)	5 निवृत्ति-अनाश्रित

यहाँ आचार्य क्षेमराज के अनुसार यह भुवनादि संख्या का विभाजन किञ्चित् भिन्न है - जैसे -

कलाएँ	भुवन
निवृत्ति	16
प्रतिष्ठा	56
विद्या	28
शान्ता	18
शान्तातीता	- = 118

इस प्रकार से प्रति निवृत्ति, विद्या व शान्तातीता कला की संख्याओं में भिन्नता है ।[1]

1- '' निवृत्तौ कलायां क्षकारेको वर्णः ..... प्रतिष्ठायां हादयष्टान्ताः वर्णाः त्रयोविंशतिः .... विद्यायां जादि घान्ताः सप्तवर्णाः, ... शान्तौ तु गखकः त्रयोवर्णा.... शान्तातीतायां च वर्णाः षोडशस्वराः, ... पञ्च भुवनानि इति विवेकः ''(म0मं0,पृ065-66)

यहाँ कला–तत्त्व–भुवन जोकि अभिधेयभूत है, वाच्य है, जो प्रकाशस्वरूप हैं उन्हें पूर्व में तथा अभिधानभूत , वर्ण–पद–मन्त्र को जो वाचक, विमर्शरूप हैं, पश्चात् कहा गया है । इस प्रकार से वाच्यवर्ग प्रकाशपरमार्थ है और वाचकवर्ग विमर्शवपु है, जोकि प्रकाशविमर्शात्मक परमभैरव या परमशिव का यामल स्वभावरूप उल्लास मात्र है ।[1]

यह वाचक–वाच्यात्मक रूप में परिणत होते हुए जगत् अपनी सत्ता का अवबोध, आभास करवाता रहता है । अब इस अवस्था में यह विचारणीय हो जाता है कि क्या बीज जिस प्रकार अपने स्वरूप का परित्याग करके अंकुर, वृक्ष, पत्र, पुष्पादि रूप में परिणत होते हुए रहता है, उसी प्रकार यह प्रकाश–विमर्शात्मक तत्त्व भी स्वस्वरूप उज्झित करके क्या स्थूल रूप में स्थित रहते हैं या अनुज्झित रूप में ?

यह अत्यन्त चिन्तनीय बिन्दु है और यही शिवाद्वयनयवाद, शैवागमानुसार परमसत्ता अपने परमार्थिक रूप से जगद् रूप में अवभासित होने पर भी च्युत नहीं होती। अतः उसको अक्षररूपा कहा गया है ।

स्वातन्त्र्यवाद, ऐश्वर्यवाद की सिद्धि का चरम हेतु बनता है । अस्तु । यहाँ वैदिक सिद्धान्तानुसार भी शिवाद्वयनय की सिद्धि होती है । वह अपने देह का निर्माण करके उसमें प्रविष्ट हो गया[2]। अतएव जगत् व ब्रह्म वा भैरव वा परमशिव का अभेद ही सिद्ध होता है । वाचक – वाच्यरूप भेद में भी वह प्रकाशमात्र ज्ञानमय अभेद अनुस्यूत रहता ही है । यही ज्ञातव्य, प्राप्तव्य व

1– "तत्र भुवनादि प्रथममभिधेयभूतं वर्णमन्त्रादिद्वितीयमभिधानमिति विवेकः । तथा च सति वाच्यवर्गः सर्वोऽपि प्रकाशपरमार्थः, वाचकोल्लेखस्तु शिवस्य प्रकाशविमर्शात्मनः यामलमुभयसंसर्गाराणि स्वभाव उल्लासः ।।" (म०मं०पृ० 67)

2– "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" (वृ०उप०)

निदिध्यासितव्य है । श्री विद्या मन्त्र भाष्यानुसार कहा भी गया है कि, "ब्रह्म की परिणामभूत सृष्टि दो भेदवाली होती हैं, एक शब्दमयी व दूसरी अर्थमयी, चक्रमयी व देहमयी वा । ये दोनों सृष्टियाँ बच्चे के खिलौने की भाँति होती हैं तथा जिस प्रकार स्थूलगृह के समान आकार के द्वारा सूक्ष्मगृह के निर्माण की तरह वह सूक्ष्मगृह के अन्तर्गत ही होता है उसी प्रकार शब्द सृष्टि अर्थ सृष्टि के अन्तर्गत ही रहती है, उससे भिन्न नहीं ।"[1]

इसी प्रकार ये शब्दार्थमयी दोनों सृष्टियाँ समानकाल उत्पत्तिशालिनी व समानकालाभिवृद्धिशालिनी भी होती हैं । जैसे बीजाङ्कुर व उसकी छाया । छाया के द्वारा वृक्ष का अनुमान होने से छाया में वृक्ष के आकार की समानता तथा वृक्ष का अविनाभाव ये दोनों उपपन्न सिद्ध रहते हैं । उसी प्रकार शब्द भी अर्थ के अविनाभूत होता है और अर्थज्ञान का जनक बनता है, "वाणी व अर्थ के समान जो मिले हुए हैं, उन शिवपार्वती को" यह महाकवि कालिदास का प्रयोग भी उक्त तथ्य को सिद्ध करता है ।[2]

इस प्रकार अर्थ ज्ञान का जनक शब्द ज्ञान में शब्दों के आकार की समानता को भी वाहित करता है । अर्थात् जितने शब्द में अवयव होते हैं, उतने ही अर्थ के ज्ञान में भी रहते हैं । जैसे – चैत्र चावल पकाता है । इस वाक्य में संस्कृत शब्दावली के अनुसार "चैत्रः", तण्डुलं पचति" इस रचना का प्रकृति प्रत्यय में द्विधा विभाजन होता है जैसे – चैत्र + सु, तण्डुल+अम्, पच् + ति । इस प्रकार षडात्मक वाक्य में चैत्र में कर्तृत्व, तण्डुल में कर्मत्व, व पचति में क्रिया का अपने अपने क्रमशः प्रत्ययों के साथ योग होने पर छः प्रकार का अर्थ इस वाक्य का बनता है । इन छहों के परस्पर प्रकृति – प्रत्यय सम्बन्ध से तत्त्त्पदार्थविशिष्ट भावना

1– "ब्रह्मपरिणामभूता सृष्टिर्द्वेधा अर्थमयी शब्दमयी च, चक्रमयी देहमयी चेति । सृष्टिद्वयन्तु बालक्रीडनकाद्ये स्थूलगृहसमानाकारत्वेन सूक्ष्मगृहनिर्माणतुल्यमर्थसृष्ट्यन्तर्गतमेव न ततो भिन्नम् ।" (श्री0वि0मं0 भा0, पृ0, 295)

2– "पूर्वोक्ता द्विविधापि सृष्टि समकालीनोत्पत्तिका ..... अर्थज्ञानजनकज्ञानविषयत्वात् ..... महाकवि प्रयोगदर्शनाच्च ।" (तदेव)

ही वाक्यार्थ बनता है, ऐसा मीमांसक मानते हैं, इसलिए ज्ञान भी छहों पदार्थों के आकार का होता है । अन्यथा ज्ञानों में परस्पर विलक्षणता की प्र ीति न होगी ।[1]

इसी उक्त प्रकृति – प्रत्ययात्मक शब्दार्थमय सृष्टिद्वय का विभाजन ही आचार्य ने वाचक – वाच्यात्मक रूप स्पन्द में किया है ।

वह परमभैरव वाचक–वाच्यात्मस्पन्दनों का एकमात्र प्रभु वा स्वामी है । वही स्थूलसूक्ष्मपर वाचक – वाच्यात्म स्पन्दनों के द्वारा छः प्रकार से आगमों में षडध्वा कहलाता है ।[2]

इसी वाचक – वाच्यरूपी स्पन्दन के अन्यत्र चार भेद भी किए गए हैं । जैसे – ये दोनों शबर्थमयी सृष्टियां स्थूलसूक्ष्मसूक्ष्मतरसूक्ष्मतम भेद से चार प्रकार की होती हैं, इसी प्रकार श्रोत्र व मन का अर्थ में अन्तर्भाव होने से उक्त चार प्रकार में ही गणना हो जाती है । जैसे " स्थूल श्रोत्र से स्थूल शब्द के श्रावण से स्थूलार्थ का स्थूल मत से ज्ञान होता है । श्रोत्र व मन की जो सूक्ष्म सूक्ष्मतत्वादि अवस्थाएँ हैं या उनका सूक्ष्मत्व जो है वह शास्त्राभ्यासादि की पटुता से उत्पन्न होता है ।[3]

यह तथ्य अन्यत्र श्रुति व योग सूत्र से भी स्पष्ट होता है । "निर्विचार का वैशारद्य होने से अध्यात्म प्रसाद होता है ।[4]

1– "तण्डुल पदं अम् प्रत्ययः पचिधातुः ति प्रत्ययश्चेति षडवयवात्मकस्य वाक्यस्य चैत्रः कर्तृत्वम्, तण्डुलः कर्मत्वम्, तेजः संयोग कृतिश्चेति विशकलिताः षडर्थाः ।।" (श्री वि०मं०भा०पृ० 295)

2– " तत्र वाचकवाच्यात्मस्पन्दयोरेकशः प्रभुः, स्थूलसूक्ष्म पराभासक्रमयोः षड्विधाध्वता ।।" (प०पं०श्लोक, 7)

3– "द्वेऽपि सृष्टि .... शास्त्राभ्यासादिपाटवजन्यम्" (श्री वि०मं०भा०पृ० 296)

4– " निर्विचारवैशारद्येऽध्यातमप्रसादः ।" (यो०सू०)/47)

उस अवस्था में जो प्रज्ञा होती है, उस का नाम ऋतम्भरा है ।[1] लोक में जो वाणी है वह चार भागों में बॅटी हुई है । इन चार पदों को ब्राह्मण वेदवित् मनीषिगण जानते हैं । इनमें से तीन पद गुहा में (गुप्त) स्थित हैं, और प्रकाशित नहीं होते, परन्तु चौथे पद को मनुष्य वाणी रूप में उच्चारित करते हैं ।[2]

अतएव चतुर्विध वाक् के चतुर्विध अर्थ ही ज्ञातव्य हैं । वास्तव में वाचक – वाच्यार्थमयी शब्दार्थमयी सृष्टि द्वय का मूलभूत सूक्ष्मस्वरूप विशेषात्मक होने से अभिन्नशब्दर्थरूप "शब्दब्रह्म" के पद से कहा जाने वाला "परब्रह्म" व "परभैरव" व परमशिव ही है, जोकि इस कृति का भी प्रतिपाद्य मूलभूत तत्त्व है । यह परमभैरव तत्त्व अनुभयात्मक स्वस्वरूप में स्थित रहते हुए भी, उभयात्मक, वाच्यवाचकात्मक, प्रकाश– विमर्शात्मक , शब्दार्थात्मक ज्ञाता – ज्ञेयात्मक आदि द्वन्द्वों से विभजित होता रहता है ।

यह उभयात्मक, विश्वमय व विश्वोत्तीर्णता की अवस्था का उद्घोष ही वैदिक, तान्त्रिक, पौराणिक, आगमिकादि ग्रन्थों में अनेकत्र हुआ है । जैसे – "ईशावास्य उपनिषद्" के अनुसार "वह पूर्ण है यह भी पूर्ण है । उस पूर्ण (ब्रह्म) से ही यह (जगत्) पूर्ण कहा जाता है । उस पूर्ण(ब्रह्म व भैरव) में से यह (जगत् वा विश्व) पूर्ण निकाल लेने पर, वह पूर्ण (परमशिव) ही

1– "ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा"। यो0सू0।।48

2– "चत्वारिवाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्याः वदन्ति ।"। (ऋ0 2.3.22, अथर्ववेद 9.25.27)

ही अवशिष्ट रह जाता है"।[1]

श्री विद्या मन्त्र भाष्य के अनुसार जहां – "जहां केवल शुद्ध शिव का अथवा शक्ति तत्त्व का जगत् कारणत्व है वहां – वहां उन उन ग्रन्थों में कहा गया है, वह उस प्रकार से अर्थात् एकात्मक तत्त्व से कहा जाने पर भी शिव–शक्तिरूप उभ्यात्मक ही जानना चाहिए"।[2]

काम-कला-विलासानुसार एक ही वस्तु उभयविध होती है । यह सभी वेदान्तों का सम्मतार्थ है"।[3]

काम कला विलास के अनुसार "ये दोनों वाच्यवाचकरूप प्रकाशविमर्श शिवशक्तिमय हैं । इन दोनों के एक ही परमशिव वा ब्रह्म द्वारा उत्पन्न होने के कारण बह्नि व उसकी दाहकता की तरह इन में तत्त्वान्तर नहीं होता । इस विषय में आगम प्रमाण भी है, कि हम दोनों के जगदाकार होने से हमारा भी तादात्म्य है"।[4]

वाचक–वाच्यात्म षडध्व संघट्ट इतना सूक्ष्मतम है कि मात्र श्रवण से ही हृदयङ्गम नहीं होता । श्रुति से लेकर आगमादि ग्रन्थों में इसकी दुरूहता द्योतित की गई है । कठोपनिषद् के अनुसार यह सब भूतों में गूढ आत्मा प्रकाशित नहीं होता । वह केवल कुशाग्र, सूक्ष्म बुद्धि के

1– "पूर्णमिदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।" (ईशा0उ0शां0पा0 1)

2– "तथा च शुद्धस्य शिवस्य केवलायाः शक्तेर्जगत्कारणत्वं तत्र तत्रोच्यमानं शिवशक्ति–रूपस्योभयात्मन एव बोध्यम्"।। (श्री0वि0मं0भा0पृ0297)

3– "एकमेव वस्तु उभयविधं भवति । सर्ववेदान्त सम्मतत्यिर्थः"।। (का0क0वि0पृ054)

4– "परस्परं शक्तिशिवमयौ प्रकाशविमर्शस्वरूपौ । उभयोरेककृत्तत्वात् "वह्निर्दाहकवत्। तत्त्वान्तरं न भवतीत्यर्थः । तथा चागमश्च–आवयोर्जगदात्मत्वात् तादात्म्यं चावयोरपि" इत्यादि ।' तदेव, पृ0 34

द्वारा ही सूक्ष्मदर्शियों से देखा जाता है ।[1]

जो तप से भी पूर्व में उत्पन्न हुआ था व जलों से भी पूर्व हुआ था तथा जो हृदयरूपी गुहा में प्रविष्ट होकर स्थित रहता है उसे जो भूतों के द्वारा देखता है वही यह परम तत्त्व है ।[2]

यद्यपि ऐसी विचित्रता इस सूक्ष्मतत्त्व की अवधारणा में आती है, तदपि इसे अनुभवगम्य बनाने का उपाय भी श्रुति प्रशस्त करती है । वह कहती है – कि – उस गूढ तत्त्व का रूप दृष्टि में नहीं आता न ही उसे कोई ज्ञान मात्र से देख सकता है । वह तो हृदय, मनीषा व मन की मिरित अभिक्लृप्ति वा अभिसामर्थ्य से ही ज्ञात किया जा सकता है । इस प्रकार से जो उसे जानते हैं, वही अमृतपद लाभ करते हैं ।[3]

इस प्रकार से यहाँ वाचक – वाच्यात्म स्पन्दन की वास्तविकता का कथन तथा उसकी क्लिष्टता का कथन श्रुतिसम्मत व आगमसम्मत है तथा "स्थूलसूक्ष्मपराभास" क्रम कहकर आचार्य ने देशकालातीत निरूपाधिक परमब्रह्म के आभास से ही दृश्यमान जगत् की सृष्टि प्रक्रिया की युक्तिसंगत प्रक्रिया सिद्ध की है । परमभैरवात्म तात्त्विक ज्ञान की ओर आरोहण करते हुए उस "चिदानन्द" तत्त्व की प्राप्ति से ही सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति होती है, इसे श्रुत्युक्त सिद्धान्त का भी उपोद्बलन किया है । कठोपनिषदानुसार भी "वह आत्मा है और उपलब्ध करना चाहिए , दोनों सोपाधिक व निरूपाधिक ब्रह्म को तत्त्वभाव से जानकर ही जो साधक वा तत्तन्वेषी यह जान जाता है कि वह आत्मतत्त्व, परमभैरव तत्त्व है उस ऐसी उपलब्धि वाले के लिए ही वह "तत्त्वभाव" तात्विकज्ञान प्रसन्न होता है । अथवा उसे प्राप्त करता है" ।[4]

1– (कठो0उप0, 1.3.12)

2– (तदेव, 2.1.6)

3– (तदेव, 2.3.9)

4– (तदेव, 2.3.13)

अतएव यह षड्विध वाचक – वाच्यात्मस्पन्द को जानना भी अत्यावश्यक है एतदर्थ ही आगामिकार्थ का उपोद्धलन आयमों ने षड्विधाध्वता में "स्थूलसूक्ष्मपराभास" क्रम कह कर किया है। ।

यह वाचक वाच्यात्मकता ही समस्त सृष्ट में व्याप्त है । पूर्वोक्त भी कहा गया है, तदपि अन्यत्र भी दिखाते हैं ।

पातञ्जलयोगसूत्रानुसार[1] उसका वाचक प्रणव है । यहाँ वाच्यवाश्यकात्मक शब्दार्थ का सम्बन्ध संप्रतिपत्ति की नित्यता होने के कारण सगन्तिरों में भी संकेत से ही किया जाता है । अतएव यह शब्दार्थ का सांकेतिक सम्बन्ध अनादि व नित्य है ऐसा आगमवेत्ता कहते हैं ।[2]

अतएव "अहम्" इस आगमिक सूत्रात्मक पारिभाषिक शब्द में प्रकाशस्वरूप शिव ही "अकार" है व उसका वाच्य स्वरूप स्फुरणशक्ति ही "हकार" वर्णवाच्या है । ये दोनों 'अकारहकार' परारूप सूक्ष्मतम हैं ।[3]

ये वर्ण–पद–मन्त्र वाक् तथा कला–तत्त्व–भुवन ही अर्थ हैं । ये दोनों नित्यसम्पृक्त प्रकाश– विमर्शात्मक हैं व इन दोनों से ही षडध्वात्मक सर्वप्रपञ्चोत्पत्ति होती है । यह वाचक वर्णों के द्वारा वाच्यार्थ रूपा ही होती है । यही आगम–निगम विज्ञान का चरमोत्कर्ष है, जो इस स्थल पर प्रकाशित किया जाता है, कि वर्णो से ही समस्त जागतिक पदार्थों की उत्पत्ति होती है । अर्थात् वर्ण नादात्मक ध्वन्यंश के रूप में स्पन्दनों के रूप में तत्तत्पदार्थों में अनुस्यूत रहते हैं, सूक्ष्मतम रूप में अवस्थित रहने के कारण व उनका अन्तर्भाव चित्तत्व में परम्परा से हो जाता है, परन्तु तारतम्य क्रम से स्थूलता होने पर वे कला, तत्त्व, भुवनादि में परिणत होते हैं । यह

1– "तस्यवाचकः प्रणवः "। (पा0यो0सू0, 1/27)

2– "सर्गान्तरेष्वपि वाच्यवाचकशक्त्यपेक्षस्तथैव संकेत, क्रियते, संप्रतिपत्तिनित्यतया नित्यः शब्दार्थसम्बन्ध इत्याशमिनः प्रतिजानते ।।" (पा0यो0सू0भा0भा0, 1/27)

3– "अहमित्यत्र प्रकाशस्वरूपः शिवस्त्वकारस्तद्वाच्यश्च स्फुरणरूपशक्तिः हकारस्वरूपा तत्पदवाच्या । तावेतावकारदकारौ परारूपौ सूक्ष्ममतमौ ।।" (श्री0वि0मं0भा0, पृ0297)

पञ्चाशत्-वर्णों की सृष्ट्यनुगतता वास्तव में भारतीय तान्त्रिकाचार्यो की अनुपम, मौलिक व अद्वितीय खोज है, जो सदैव भारतीय रहस्य-विधा को ऊर्जस्वी व सर्वोपरि बनाए रखेगी । अस्तु ।

तन्त्रालोकानुसार – "अनुत्तर से कवर्ग की उत्पत्ति होती है, उसमें पाँचों शक्तियाँ रहती हैं ।

चिदानन्देच्छाज्ञानक्रिया आदि "।[1]

कामकलाविलासानुसार सर्वज्ञत्व, सर्वेश्वरत्व, सर्वकर्तृत्व, पूर्णत्व, व्यापकत्व रूपी पांच शकितयों से संवलित पर भैरव ही कहा गया है ।[2]

"वामा ज्येष्ठा, रौद्री, अम्बिका व चकार से पराशक्ति रूपी ये पाँच शक्तियाँ अनुत्तराशभूत होती हैं"। [3]

शिवसूत्रानुसार – "अ–इ–उ–ऋ–लृ शक्तियों से पुरूषान्त समस्त जगत् उत्पन्न करती हैं "।[4]

तन्त्रालोक विवेक भाष्यानुसार अनुत्तर – इच्छा– ईशन–उन्मेष–ऊनता रूप आनन्दशक्ति ही पञ्चक होती है "।[5]

" इच्छा शकित से स्वस्वरूप में स्थित रहते हुए चवर्ग की तथा ज्ञाता भाव से ज्ञेय की कालिमा में प्रविष्ट होते हुए ऋवर्ग व लृवर्ग की तथा स्फुटता के उन्मेष से पवर्ग की उत्पत्ति होती है, जहां विश्व की समाप्ति होती है "।[6]

1– "अनुत्तरात्कवर्गस्य सूतिः पञ्चात्मनः स्फुटम्" । (तं0आ03/149)

2– " ततश्च सर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वसर्वकर्तृत्वपूर्णत्वव्यापकत्वरूपपञ्चशक्ति संपलितं पर ब्रह्मेत्यक्तं भवति "। (का0का0वि0चि0व0, पृ05–6)

3– "वामा–ज्येष्ठा–रौद्री–आम्बिका चकारात पराशकितञ्च । इमाः पञ्चशक्तयः अनुत्तराशभूताः "। (तदेव, पृ0 48)

4– " अ–इ–उ–लृ शक्तिभ्यः पुरूषान्तं समस्तं प्रपञ्सचयति "। (शिव0सू0वि0, 2/7)

5– " पञ्चकमिति – अनुत्तरेच्छेशनोन्मेषोनतारूपम् अनन्दशक्तिर्हि । (तं0आ0वि03/92, पृ0101)

6– इच्छाशक्तेः स्वस्वरूपसंस्थाया एकरूपतः । च वर्गपञ्चशक्त्यात्मा क्रमप्रस्फुटतात्मकः

.... यतो विश्वं समाप्यते ।" (तं0आ0, 3/151–152)

यहां अनुत्तर अकार से कवर्ग, उससे पञ्चमहाभूत पृथिव्यादि, आकाश पर्यन्त, इकार से चवर्ग, उससे महाभूतों की क्रमशः सूक्ष्म, तन्मात्राऍं, ऋकार से टवर्ग, उससे वागादि पाञ्च कर्मेन्द्रियां, लृकार से तवर्ग, उससे घ्राणादि पाञ्च ज्ञानेन्द्रियां, उकार से पवर्ग, उससे मनः अहंकार बुद्धि ये अन्तःकरणत्रय तथा त्रिगुणमयी प्रकृति व उसकी उत्पत्ति में सहायक सापेक्ष पुरूष ये तत्त्व । इसी पुरूषतत्त्व में विश्व का लय हो जाता है । तदनन्तर अन्तस्थ य र ल व से क्रमशः य से 'नियति,' र से 'काल,' ल से 'राग' व विधा' व से 'कला' व 'माया इनका प्रादुर्भाव होता है । इसी प्रकार ऊष्म वर्णों श ष स ह से क्रमशः शुद्धविद्या, ईश्वर, सदाशिव व शक्ति तत्त्व का आविर्भाव होता है ।

यही वाचक – वाच्यात्म पञ्चाशत्–वर्णपुञ्ज से परमभैरव इस जगत् का छत्तीस तत्त्वों व दो सौ चौबीस पूर्वोक्त भुवनों का विस्तार करता यही "पर्यन्त–पञ्चाशिका" में भी वर्णित करते हुए कहा गया है कि, उक्त "वाचक – वाच्यात्मस्पन्द का जो उन्मिषित होने का आभासित होने का परावस्था से स्थूलावस्था में परिणत होने का जो क्रम है वह देशकालात्मा होता है और उसी से भिन्नता की सृष्टि संतितियों की होती है । यही क्रम विज्ञाता से ज्ञेय का विच्छेद करवाने के कारण विचित्राभासमयी सृष्टि की रचना करता है"।[1]

यह वाचकांश वर्ण–पद–मन्त्रात्मक जो प्रकाशस्वरूप व प्रमा स्वरूप होता है, "कालाध्वा" कहलाता है, कला–तत्त्व भुवनात्मक जो वाच्यांश त्रिक् है, वह "देशाध्वा" कहलाता है तथा प्रमेय रूप में अवस्थित रहता है । यह "कालाध्वा" ही सभी प्रमातृप्रमाणप्रमेयरूपों का विश्रान्ति स्थान होता है, और देश से पूर्व काल की ही उत्पत्ति क्रम से होती है । क्रमात्मा ही काल कहलाता है ।

1– '' क्रमो यो देशकालात्मा भेदप्राणस्स संविदाम् । विच्छेदादेष विज्ञातुविचित्राभासताकृतः॥''
(प०पं०श्लोक, ४)

(2) ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी के अनुसार –

"जिस प्रकार शीतऋतु का ज्ञान हेमन्त (पतझड़) से त पतझड़ की क्रिया से शीतकाल का सर्वथा शून्यरूप (अस्फुट) ज्ञान होता है । वही हेमन्त व शीत के परस्पर क्रम के काल का ज्ञान करवाता है । इसे ही क्रम का उठना कहते हैं । यह इस प्रकार की क्रमिक आभास का प्रथन करने वाली भगवान् की क्रिया शक्ति ही "कालशक्कित" कही जाती है ।[1]"

"यह क्रियाशकिकत जो कालक्रम का आभास करती है वह प्रमाता की ज्ञानशक्ति रूपवपु का ही धर्म है, इसलिए ज्ञान व क्रिया अवियुक्त ही होते हैं ।[2]

"इसी एकात्मता को आचार्य "पर्यन्त – पञ्चाशिका" में भी व्यक्त करते हुए कहते हैं कि मैं (भैरव) एकाकी ही माता, मेय, विज्ञान व मान प्रकार वाला हूँ ।[3]"

अतएव आगमोक्त षडध्वा का परिगणन आचार्य ने कौलिकार्थ की पुष्टि हेतु, विषयवस्तु की सूत्रात्मक प्रवाहात्मकता हेतु, प्रस्तुत किया है। तथा क्रमार्थनय का भी समावेश इस प्रकरण में किया गया है। महानयप्रकाश के अनुसार –"विश्व के अन्दर जो कुछ भी पदार्थ संसार दिखाई पड़ता है, वह सब नाम रूप मय ही है । वह नामरूप भी धाम व वर्ण पर्याय कहे जाते हैं। सभी पदार्थ धामवर्णमयता को नहीं त्यागते हैं । पर भैरवीय संवित् में अवलम्बित होकर ही विश्व अपनी सत्ता को धारण करता है । अतएव सभी भाव धामवर्णसंवित्क्रम के अन्दर ही सिद्ध होते हैं।[4]

ये धामवर्णक्रम ही वाच्यवाचकभेद से शब्दार्थ गति से नामरूप के द्वारा विवर्तित होते हैं, तथा विश्व में सर्वत्र व्यापक तथा अपरिहार्य हैं । ये दोनों प्रमेयरूप होते हैं और इन दोनों का अधिष्ठाता प्रमातारूप तृतीय संवित् क्रम परभैरव होता है । इस संवित् क्रम के बिना धामवर्णक्रम

1– "यदा तु शरदाभासं ..."कालशक्ति" इत्युच्यते" (ई०प्र०वि०2.1.5)

2– "कालक्रममाक्षिपन् क्रियाभिधीयते ... ज्ञानं क्रिया च ।" (तदेव,3.1.1)

3– "एकोऽहं मातृविज्ञानमानमेयप्रकारवान् ।" (प०पं०श्लोक. 27)

4– "विश्वान्तः पाति पदार्थसार्थो नामरूपमय एव नामरूपे ....सर्वे भाव इति सिद्धम्।" (म०प्र०, पृ०85)

स्थित होते हुए भी अस्थितवत् होते हैं, क्योंकि वस्तुतः दोनों जड़ होते हैं । अतएव सर्वथा संवित्क्रम भैरव चैतन्य से ही व्यवस्थापित किए जाते हैं । इस प्रकार से सर्वत्र यह धाम–वर्ण–संवित् क्रम प्रशस्यतर व अपरिहार्य है"।[1]

उक्त अनुच्छेद से यह स्पष्ट ही सिद्ध हो जाता है कि – आचार्य अभिनव ने सूत्ररूप में कुल व क्रमार्थ के एकत्व को ही प्रतिपादित किया है और "पञ्चाशिका" का पर्यन्तार्थ वा अन्तिमार्थ एकमात्र चितत्व ही है । यही भाव अन्यत्र कहा भी गया है कि "विश्वप्रपञ्चमय जो क्रमार्थ है वह जब कलना को प्राप्त करवाया जाता है और साक्षात्कृत किया जाता है तो वह पुनः पर्यन्त में (निज पद) में क्रम व अक्रम को एकीकार करके, परक्रम में शमन करवाती हुई नवार्णा कुलविद्या ही है अर्थात् कुलविद्या व क्रमार्थ एक ही है ।[2]

आचार्य अभिनव का इंगित भी इसी रहस्यार्थ की ओर है जिसका उपोद्बलन उन्होंने पञ्चाशिका में भी स्थल – स्थल पर किया है ।

उक्त षडध्व द्वारा उभयात्मिका शब्दार्थमयी सृष्टि के स्वरूप का प्रतिपादन करने के अनन्तर व्यक्तिगत अनुभवगत सृष्टि का उद्भव किस प्रकार से होता है ? अथवा क्या स्वरूप होता है ? इसी विचारणा का संग्रह भी आचार्य ने पञ्चाशिका में असाधारणी सृष्टि कह कर किया है ।[3]

1– "धामवर्ण क्रमौ हि वाच्यवाचकभैदेन शब्दार्थगत्या नामरूपविवर्तरूपौ .....
क्रमः प्रशस्यतरश्च अपरिहार्यश्च ।।" (म0प्र0पृ045–46)

2– "विश्वप्रपञ्चमयः क्रमार्थः कलनां प्रापितः साक्षातकृतश्च पुन पर्यन्ते निजेपदे शाम्यन्त्या एव क्रममक्रमीकृत्य परे च क्रमे एकैव कुलविद्यानवार्णा" (तदेव 122–123)

3– "तस्यासाधारणी सृष्टिस्तत्न्मानाविकल्पना" (प0पं0 श्लोक 17)

<u>असाधरणी सृष्टि</u>

यह षडध्व की परम्परा जब चैत्तिक (सीमित) भूमिका को धारण करती है। अर्थात् परप्रमाता भैरव जब परिमित प्रमाता का स्वरूप धारण करता है, तो उस अवस्था में ही साधारणी व असाधारणी सृष्टि का भेदोद्भूत होता है। यद्यपि मूल रूप में यह परिमित प्रमाता की असाधारणी सृष्टि परप्रमाता के ही आश्रित रहती है व उसी के संस्कार से संस्कृत होती है[1]। तदपि परिमिते होने कारण सकुंचित प्रमाता होने से पाशवी व्यक्तिगतानुभवात्मिका 'असाधारण' कही जाती है। इसी लिए इन प्रकरण का नामकरण असाधारणी सृष्टि किया गया है। क्योंकि असाधारणी सृष्टि का जो मुख्य कर्ता होता है, वह परिमित प्रमाता जीव का पशु कहा जाता है, और उसकी कृति व परप्रमाता की कृति में स्वाभावविक अन्तर होगा ही। इसीलिए यह उभयविध पशु व पति सम्बन्धी सृष्टि का अन्तर आचार्य ने भी संग्रहीत किया है। यह असाधारणी सृष्टि का उपादान प्रत्याभिज्ञानय के अनुबन्ध का संकेत भी करता है। क्योंकि आचार्य उत्पलदेव ने भी तत्त्वसंग्रहाधिकार नामक चतुर्थाध्याय-आह्निक एक की-नवमी कारिका में उक्तार्थ का उल्लेख किया है कि-"उस पशु वा जीव की असाधारणी सृष्टि ईश्वरीय सृष्टि का आधार लेकर ही होती है। वह भी अज्ञ रूप होने पर भी ईश्वर को शक्ति द्वारा सत्यमयी होकर ही भासित होती है"।[2]

इस साधारणी व अन्यथा भावात्मिका सृष्टि का कारण क्या होता है। उस पर भी संक्षिप्त प्रकाश डालते हैं।

1- "शैवसर्गोत्थसंस्कारसंस्कृतस्य तदाश्रया।" (प0पं0,17)

2- "तस्यासाधारणी सृष्टिरीशसृष्टयुपजीवनी।
सैषाऽव्यज्ञतया सत्यैवेशशक्त्या तदात्मनः।" (ई0प्र0का0 4.1.9, पृ0,307)

आचार्य अभिनव ने, यद्यपि ."पर्यन्त–पञ्चाशिका" में प्रत्यभिज्ञा नयोक्त इस असाधारणी सृष्टि का सूत्र रूप से उल्लेख किया है, तदपि ई०प्र०वि० व ई०प्र०वि०वि० में विस्तार से इसके द्वैधी भाव के कारण पर प्रकाश डाला है । उनकी दोनों व्याख्याओं का सार यहाँ प्रकाशित करना आवश्यक है । उनकी व्याख्याओं के अनुसार परवश अपनी निजशक्ति के उपरोधजन्य विकल्पवश, विकल्पन क्रिया के कारण ही वह प्रतिप्रमातृनियता परिमित भैरवरूप असाधारणी सृष्टि का आविर्भाव होता है ।

परवश ही इस परप्रमाता से विकल्पशक्ति का उदय होता है ।[1] इसी शक्ति के परिज्ञान व अपरिज्ञान से ही मुक्तता व बद्धता होती है ।[2]

यह विकल्पशक्ति का उदय किस कारण से होता है ? इस विषय में आचार्य प्रत्यभिज्ञानमसम्मत कारिका का ही व्याख्यान करते हुए कहते हैं कि – ईश्वर के विश्वशरीररूपी परामर्शमय विग्रह से जो शब्दराशिरूपीशरीर की जो माया नामक शक्ति, निज स्वभाव विश्रान्ति में रहती है, वह परमेश्वर के ऐश्वर्य (स्वातन्त्र्य) का उपरोध (वाधा) करती है और वही उसका प्रयोजन होता है, तो वह तत्तत् ब्राह्मादि देवता चक्र की अष्टवर्ग में अधिष्ठात्री बनती है, उसके पश्चात् उसी अष्टकवर्गमयी विकल्प शक्ति से ककारादि व्यञ्जन वर्णो के समास व्यास के शत सहस्ररूपी वैचित्र्य से अष्टाष्टक भेद के वैचित्र्य से प्राणपानादि रूप में प्रसारित होती हुई, एक क्षण भी कभी एकत्र नहीं रहती । 'यह मित्र है' व 'शत्रु है' इस प्रकार का विकल्प जिससे किया जाता है वह परप्रमाता ईश्वर की ही स्वभाव रूपी पाशवी असाधारणी सृष्टि जैसे दश दान्तों का हाथी इस रूप में भी पृथक आभासों को ईश्वरसृष्ट के रूप में ही दिखलाती है । यही सूत्रार्थ है ।[3]

1– "परवशस्य एव सतो विकल्पनशकितरूदेति ।" (ई०प्र०वि० , 4/1/9, पृ०३०१)

2– "तदपरिज्ञानमात्रतो हि बद्धमुक्तता" (तदेव)

3– "तथाहि ईश्वरस्य विश्वपरामर्शविग्रहत्वेन .. उपजीवति इति, सूत्रार्थः ।" (तदेव)

तथा माता–मेय का जो सम्बन्ध ऐकान्तिक व अपरिहार्य है, वह भी इस स्थल पर चिन्तनीय है ? क्योंकि यदि उभयविध सृष्टि का स्वीकार किया जाएगा तो ईश्वर व परिमितप्रमाता (जीव) का मेय पदार्थ एक जैसे होंगें व भिन्न – भिन्न ? एक जैसे मानने पर उभयविध परप्रमाता (ईश्वर) व परिमित प्रमाता (जीव) का विभाजन किं प्रयोजन होगा ? एवञ्चं भिन्न – भिन्न मानने पर जीव-ब्रह्मैक्य की सिद्धि कैसे होगी ?

उक्त स्वाभाविक शङ्.का का समाधान भी इस प्रकरण की स्पष्टता में कारक है । वह यह है कि, यद्यपि परिमित प्रमाता असाधारणी सृष्टि का माता मूल रूप में रहता है और मेय उसकी अस्पष्टावभासात्मिका सृष्टि होती है, तदपि परप्रमाता की अपेक्षा से वह उसका मेय ही बन जाता है, तभी "प्रमाता सहित ही प्रमेय की सृष्टि होती है अन्यथा , क्योंकि भेदावभास के पात्र सभी प्रमेय के बिना सृष्टि की ही उपपत्ति (सिद्धि) नहीं हो सकती ।[1]

अस्तु । इस प्रकार से "परिमितप्रमाता यहां व्यक्तिगत माता कहा जाता है और जिसे प्रत्यगात्मा कहते हैं, वह स्वयं भी परप्रमाता का मेय होता है, इसके विषय इसी के अपने मानसिक, विचार, संकल्प, अनुभव मायीय होते हैं, जैसे द्विचन्द्रादि, इदं हृदम्, परन्तु ये सब [illegible] परप्रमाता वा परमप्रकाश स्वरूप भैरव वा शिव की अपेक्षा मिथ्या होते हैं, तदपि उसी में से निकलते हैं व उसी पर आधृत रहते हैं ।[2]

1– "प्रमातृसाहित्येन प्रमेयस्य सृष्टि र्नान्यथा भेदावभासनं विना तदनुपपत्तिः ।"
(ई0प्र0वि0वि0, 5/1/11, पृ0, 357)

2. "Anyatha Bhava" means "Asadharana" and refer to the second type of creation. In which the subject Matr is individual soul (pratayag-atma). It self the 'Meya' of the Lord and its objects are its own psychological concepts and experiences, (true subjective or illusory, Idam Hrdym Divi Candradi) but all of which are so far as the ultimate devine consciousnerss is concerned, really untrue, though based on thereon and derived only there form".

(प0 पं0 पा0 टि0, पृ0 5–6)

अतएव यह असाधारणी सृष्टि भी ईश्वरीय साधारणी सृष्टि के आधार पर ही अवलम्बित रहती है । क्योंकि माता का यह स्वाभाविक धर्म ही है कि उसमें ज्ञान व क्रिया वा कर्म परस्पर अवियुक्तभाव से रहते हैं ।[1]

आचार्य अभिनव ने भी इसी असाधारणी सृष्टि को लक्ष्य करके इसका विवेचन "विमर्शिनी" में इस प्रकार से किया है कि "यह जो अवियुक्तज्ञानक्रियारूप है, वह क्रिया द्वारा (विकल्पक्रिया पूर्वोक्त) सकल तत्त्वराशिगत सैंकड़ों सृष्टि व संहार को प्रतिविम्बित करने में समर्थ जो हैं, तथा वह उपदेश भाववादि में उन उन रूप में भासित होने पर भी स्वस्वरूप में वहां अनाभासित रहता है वही वस्तुतः शिव तत्त्व है ।[2]

इस प्रकार से समस्त मनोराज्यकल्पित स्वप्न सृष्टि वत् ही यह असाधारणी सृष्टि की सम्यग् व्याख्या भी सूत्रात्मक रूप में (पर्यन्त-पञ्चाशिका) में उपनिषद् होने से बौद्ध, वेदान्तादि प्रस्थानों से इसका पार्थक्य व प्राञ्जल्य भी प्रतिपादित कर दिया है ।

उपर्युक्त प्रकार की साधारणी व असाधारणी उभयविध सृष्टि में अनेक प्रकार के स्तरों को (संहार, सृष्ट्यादि) धारण करते हुए भी एकमात्र अव्यय रूप में अपनी अविकल्पित चिदात्मता की अवस्था में वही एकमात्र परप्रमाता अवस्थित रहता है ।[3]

1- "मातुरेव तदन्योन्यावियुक्ते ज्ञानकर्मणी ।"
(ई०प्र०का० 3/1/3, पृ० 263)

2- "तदेतदवियुक्तज्ञानक्रियारूपं ..... प्रतिबिम्बतसहिष्णु यत् ।
तदुपदेशभावनादिषु तथाभासमानमनाभासरूपमपि वस्तुः शिवतत्त्वम्"(तदेव, पृ०264)

3- "प्रमातैवायमेतात्प्रकारोऽवग्रहोत्सवे ।
अव्यग्रो वर्तते स्वात्मन्यविकल्पे चिदात्मके ।।"(प०पं०,श्लोक 18)

<u>सृष्टि-प्रक्रिया</u>

आचार्य ने "पञ्चाशिका" में पूर्णाहं परामर्शमयी पञ्चाशत्-वर्णमयी परावाक् तत्त्व से ही सृष्टि प्रक्रिया का संकेत किया है । वह परावाक् वर्ण नादमयी होती है । उसी के नाद के स्पन्दनों से तत्-तत् सदाशिवादि - भूम्यन्त तत्त्वों की सृष्टि होती है । इस स्पन्दनात्मकता का सर्व पदार्थो में वर्णात्मकरूप में अनुस्यूत रहना ही शैवागम विज्ञान की विशिष्टता है ।

आचार्य क्षेमराज ने इसी परावाक् शक्ति को 'चिति' संज्ञित किया है । जो विश्व की अभिव्यक्ति में सर्वथा स्वतन्त्र है । वह नगर दर्पणवत् अभिन्न रूप से अनतःस्थ भाव समूह (प्रमाता-प्रमाण-प्रमेयरूप जगत्) सदाशिव से धरणि पर्यन्त, को स्वेच्छा से स्वभित्ति पर ही भिन्नवत् आभासित करती है ।[1] इसको किसी माया, प्रकृति वा परमाणुओं पर अवलम्बित नहीं रहना पड़ा ।

इस परावाक् (पञ्चाशत्वर्णमयी) अथवा चिति को "मातृका" वा "परामातृका" भी कहते हैं । यह "मातृका" "अ" से लेकर "क्ष" पर्यन्त शब्दराशि समूह के रूप में विश्व जननी कही जाती है ।[2]

तन्त्रसद्भावानुसार भी - सभी वर्ण शक्त्यात्मक होते हैं, शक्ति ही मातृका होती है, वही शिवात्मिका होती है ।[3]

1- ''चितिस्वतन्त्राविश्वसिद्धिहेतुः ।'' (प्र०हृ०सू० ,पृ० 45)

2- ''यदेतत् त्रिविधमलस्वरूपम् अपूर्णम्यन्यताभिन्न वेद्यप्रथाशुभाशुभवासनात्मकं विविधं ज्ञानरूपमुक्तं, तस्य आदिक्षान्तरूपा अज्ञातामाता मातृका विश्वजननी।'' (शि०सू०वि० 1/4)

3- ''सर्वे वर्णात्मका मन्त्रास्ते च शक्त्यात्मकाः प्रिये ।
शक्तिस्तु मातृका ज्ञेया सा च ज्ञेया शिवात्मिका ।।"
(तं०सं०,उद्ध०शि०सू०. वि०,पृ०49)

मातृका शक्ति, जो पराशक्ति है, तीन प्रकार से ज्येष्ठा, रौद्री व अम्बिका रूप से प्रकट होती है । इन्हीं तीनों के युक्त व वियुक्त होने से ब्राह्मी आदि नववर्ग की उत्पत्ति होती है । इन्हीं नववर्गोक्त प्रथम पञ्चविध स्वरों से ही कवर्गादि की पञ्च–पञ्चक रूप से सदाशिवादि पृथिव्यन्त तत्त्वों की रचना होती है । ये शिवादि – भूम्यन्त छत्तीस तत्त्व अकरादि-हकारान्त पञ्चाशत्-वर्णों में ही स्थित होते हैं । इस प्रकार शब्द से व्याप्त यह चराचर विश्व रहता है ।[1]

इन ब्राह्म्यादि नववर्ग व तदुत्पन्न छत्तीस तत्त्वों का वर्णन निम्न प्रकार से –

क्रमांक	वर्ण	देवता	वर्ण
1–	अवर्ग	महालक्ष्मी	अ– से अः
2–	कवर्ग	ब्राह्मी	क से ङ
3–	चवर्ग	माहेश्वरी	च से ञ
4–	टवर्ग	कौमारी	ट से ण
5–	तवर्ग	वैष्णवी	त से न
6–	पवर्ग	वाराही	प से म
7–	यवर्ग	ऐन्द्री	य से ब
8–	शवर्ग	चामुण्डा	श से ह
9–	क्षवर्ग	चामुण्डा	क्ष

इन नववर्गों से छत्तीस तत्त्वों की उत्पत्ति निम्न प्रकार से होती है –

1– "एकैवेत्थं पराशक्तिस्त्रिधा सा तु प्रजायते ।।
आभ्यो युक्त वियुक्ताभ्यः संजातो नववर्गकः ।।
नवधा च स्मृता सा तु नववर्गोपलक्षिता ।।
पञ्चमन्त्रगतादेवि सद्य आदिरनुक्रमात् ।
अकारादि क्षकारान्त स्थिता पञ्चाशत् भिदा ।
एवं शब्द निष्पत्तिः शब्दव्याप्तं चराचरम् ।।"(तदेव पृ0 90–91

क्रमांक	वर्ग	वर्ण	तत्त्व
1–	अ	क–ड.	पृथिवी–आकाश
2–	इ	च–ञ	गन्ध–शब्द
3–	ऋ	ट–ण	उपस्थ–वाक्
4–	लृ	त–न	प्राण–श्रोत्र
5–	उ	प–म	मन–पुरूष
6–	य	य–व	कला–नियति
7–	श	श–ह	माया–शिव

उपर्युक्त अकार से लेकर हकारान्त पञ्चाशत – वर्णो से शैवागमोक्त छत्तीस तत्त्वों की सृष्टि की प्रक्रिया स्पष्ट होती है । इस का प्रतिपादन आचार्य अभिनव ने पञ्चाशिका में भी किया है ।[1]

इस सृष्टि प्रकिया में शिवप्रमाता से लेकर शुद्ध विद्या पर्यन्त के प्रमाता "शुद्धाध्वा" कहलाते हैं, क्योंकि इन प्रमाताओं में भेद (वेद्य–वेदक) का भाव नहीं होता । शुद्ध विद्या से नीचे भेद प्राक्रिया प्रारम्भ होती है माया से लेकर भूमि तत्त्व पर्यन्त मायाध्व व अशुद्धध्वा कहलाता है ।[2] क्योंकि इस अवस्था में भेद का (वेदक – बेद्य) ही उत्तरोत्तर आधिक्य बढ़ता जाता है ।

परमभैरव से निस्सृत सृष्टि वाचक – वाच्यात्म रूप में प्रसरित होती है, जो इस प्रसार में शिवादि – सकल प्रमाता पर्यन्त सात प्रमाताओं व सदाशिव से लेकर पृथिवी पर्यन्त 36 तत्त्वों में यह प्रमेय रूप से विस्तृत होती है । इन सप्त प्रमाताओं का वर्णन निम्नलिखित है ।

1– "अनुत्तरविसर्गात्मविश्रामोदययामलम् ।
संघट्टशिवशक्तयोस्तदन्तरेणान्यशक्तयः ।।" (प0पं0,श्लोक 30)

2– (द्रष्ट0 (प्र0हृ0टि0,पृ0 106)

1– शिवप्रमाता

शिव प्रमाता में "शिव" व "शक्ति" तत्त्व दोनों की एकाकारता रहती है, तदपि व्यावहारिक दृष्टि से इन्हें भिन्न कहा जाता है । इनके अधिष्ठाता क्रमशः "शिवभट्टारक" व "शक्तिभट्टारिका" कहलाते हैं । "शिव तत्त्व" के प्रमाता "शांभव प्रमाता" व शक्ति तत्त्व के प्रमाता "शाक्त प्रमाता" कहलाते हैं । इनमें "शांभवप्रमाता" में "चित्–शकित" की प्रधानता व "शाक्त प्रमाता" में "आनन्दशकित" की प्रधानता रहती है । इन्हें "अकल–प्रमाता" भी कहा जाता है । ये पूर्णाद्वैत होते हैं, व समन्वित रूप में इन्हें "शिवप्रमाता" कहा जाता है ।

2– मन्त्रमहेश्वरप्रमाता

परमशिव की सृष्ट्युन्मुखी प्रक्रिया में, इस दूसरी भूमि में भेदाभेद की भूमि का आविर्भाव

होता है । जिसमें "सदाशिवतत्त्व" की स्थिति होती है । इस अवस्था में "इच्छा – शक्ति" की प्रधानता होती है, व इसके, अधिष्ठाता 'सदाशिव भट्टारक' होते हैं । इनके प्रमाता "मन्त्रमहेश्वरप्रमाता" कहे जाते हैं, इनका परामर्श "अहमिदम्" इस रूप में होता है । समल होने पर भी यह पूर्णरूप से समल नहीं कहा जाता, क्योंकि इनमें "इदम्" (विश्व) की अस्फुटता होती है ।

3– मन्त्रेश्वरप्रमाता

सृष्टि विकास की अग्रिम भूमि में बहिरून्मेष के रूप में जो "ईश्वर तत्त्व" कहलाता है, वही द्वितीय तत्त्व होता है । इसके अधिष्ठाता "ईश्वर भट्टारक" कहलाते हैं । इसमें "ज्ञानशकित" का प्राबल्य होता है । इस दशा के प्रमाता "मन्त्रेश्वर प्रमाता" कहे जाते हैं । इनका परामर्श "इदमहम्" अर्थात् "यह विश्व" "मैं हूँ" यह होता है ।

4— **मन्त्रप्रमाता**

सृष्टिप्रक्रिया के इस अन्तराल में जिस तत्त्व का आविर्भाव होता है, वह "शुद्धविद्या तत्त्व" कहलाता है । इसमें "क्रिया शक्ति" की प्रधानता होती है । इसके अधिष्ठाता" अनन्तभट्टारक" कहलाते हैं । इसके प्रमाता "मन्त्रप्रमाता" वा "विद्येश्वर प्रमाता" कहलाते हैं । इनका परामर्श "अहम्", "अहम्" व इदम्" इदम के रूप में भिन्न भिन्न होता है । इस प्रकार भिन्न भिन्न होने पर भी यह स्वस्वरूप से अभिन्न अनुभूति होने के कारण ही शुद्धाशुद्ध अवस्था कहलाती है ।

5— **विज्ञानकलप्रमाता**

यह स्पन्दन की अवस्था शुद्धाविद्या व माया के मध्य की होती है, तथा यह महामायातत्त्व कहलाता है । यह मूलतः तत्त्व न होकर एक दशा मात्र ही होती है, इसमें बोधमात्र होने पर भी कर्तृता नहीं होती । अतएव सुप्तवत् होने से इसके प्रमाता "विज्ञानकेवली" भी कहे जाते हैं । इसका परामर्श "अहमिदमस्मि" के रूप में होता है । इनमें आणवमल विद्यमान रहता है ।

6— **प्रलयाकलप्रमाता**

यह परमशिव की सृष्टि की ओर उन्मुखी होते हुए पूर्णतः भिन्न वेद्य प्रथात्मक तत्त्व "माया" कहा जाता है । तथा इसके प्रमाताओं को "मायाप्रमाता" कहते हैं । इस अवस्था में गाढ़ सुषुप्तिवत् अवस्थित रहने के कारण इसके प्रमाता को "प्रलयाकल प्रमाता" व "शून्यप्रमाता" भी कहा जाता है । क्योंकि इसमें किसी भी प्रमेयादि का भान नहीं होता । इनमें आणव व मायीय मल रहते हैं, तथा कार्ममलों के संस्कार रहते हैं ।

7- सकलप्रमाता

सृष्टि की इस स्पन्दनात्मकता की अवस्था में पूर्वोक्त क्रम से संकुचित होते हुए "पुरूषतत्त्व" से लेकर "पृथिवी - तत्त्व" पर्यन्त भिन्न भिन्न पदार्थो का अवभास होने से, यह "पुरूषतत्त्व" ही "सकलप्रमाता" कहा जाता है । इसमें आणव, मायीय व कार्म तीनों मल विद्यमान होते हैं । परिमित प्रमाता होने के कारण इसके प्रमेय भी परिमित पदार्थ ही होते हैं । इसके अधिष्ठाता भी "अनन्तभट्टारक" ही होते हैं ।

अतएव यह उक्त सप्तविध प्रमाता शुद्ध (शिव-शक्ति) शुद्धाशुद्ध (मन्त्रमहेश्वर- मन्त्रेश्वर- मन्त्र) व अशुद्ध (प्रलयाकल सकल) के रूप में ही छत्तीस तत्त्वों के प्रमाता बनते हैं व सदाशिवादि - पृथिवीपर्यन्त "तत्त्व" इनके प्रमेय होते हैं । किरणागमानुसार भी -"शुद्धाध्व का कर्ता शिव व अशुद्धाध्व का कर्ता अनन्तभट्टारक है ।"

इस प्रकार सृष्टिक्रम में शिव से लेकर सकल प्रमाता पर्यन्त अनन्त प्रमाता होते हैं, जिनका वर्गीकरण उक्त सप्तविध प्रमाताओं के रूप में किया जाता है । आचार्य अभिनव ने "पर्यन्त - पञ्चाशिका" में अति संक्षेप में इसका संकेत मात्र किया है ।[1] तथा अन्यत्र अपनी कृतियों में विस्तृत रूप से विवेचित किया है । इस प्रकार परमसत्ता की विश्वमय अवस्था एक ओर 36 तत्त्वों व दूसरी ओर 7 प्रमाताओं के रूप में जड़ - चेतन रूप से आभासित होती है ।

इस प्रकार से यह पूर्वोक्त "परावाक्" शक्ति ही "पञ्चाशत्" वर्णो, 36 तत्त्वों व सात प्रमाताओं के रूप में प्रसार करती हुई परादि वाणियों के रूप में भी चार प्रकार से अवस्थित रहती हैं । इन चारों प्रकारों का संक्षिप्त वर्णन भी आचार्य ने "पञ्चाशिका" में उपनिबद्ध किया है ।[2]

1- "तस्य विद्येश - सादाख्य- शिवतास्संकुचत्स्थितेः ।
देह - प्राण-बुद्धि - शून्य-प्रमातृत्वमुपागमन् ।।" प०पं०श्लोक, 16

2- "अन्तर्लीनानन्तार्थस्वात्मामर्शशिचितिः परा ।।
एकवारवहात् येयं मन्त्रीवाक् शुद्धकर्तृता ।।" तदेव, श्लोक, 41

प्रत्यभिज्ञाकार भी कहते हैं कि यह चिति शक्ति भगवती ही, विश्व का वमन व संसार के विपरीताचरण के कारण वामेश्वरी कही जाती है । उसी से अपने स्वरूप को ढकने वाली शक्ति का प्रसार खेचरी के रूप में, अन्तःकरण द्वारा स्वरूपाच्छादन करके गोचरी के रूप में, बहिष्करणं (ज्ञानेन्द्रिय– कर्मेन्द्रिय) के आच्छादन द्वारा दिक्चरी रूप में, तथा भिन्नता के अवभास को दर्शाने के कारण प्रमेयात्मक स्वरूप से भूचरी के रूप में, इस विश्वमयी अवस्था को धारण करती है ।[1]

इस प्रकार से "पर्यन्त–पञ्चाशिका" में आचार्य ने सूत्ररूप से यह उक्त सृष्टि प्रक्रिया उपनिबद्ध करके प्रत्यभिज्ञानय व कुलनय का सामञ्जस्य ही किया है, तथा "पञ्चाशिका" की सृष्टि प्रक्रिया भी आगम–निगम सम्मत है, यही प्रतिपादित किया है ।

1– "चितिशक्तिरेवभगवती विश्ववमनात् ..... वामेश्वर्याख्या सती ....
खेचरीचक्रेण गोपितपारमार्थिक .... स्वरूपेण .... विकल्पन प्रधानान्तः करण
गोचरी क्रमेण ...... बहिष्करणात्मना च दिक्चिरी क्रमेण .....
प्रमेयात्मना च भूचरी क्रमेण .... भाति ।"

प्र०हृ०सू० 12, पृ० 73–74

जीव स्वरूप

जब वह परमशिव अनुत्तरभैरव अपनी स्वतन्त्रता के द्वारा अभेद व्याप्ति को त्याग कर भेदव्याप्ति कर ग्रहण करता है, तभी इसकी इच्छा आदि शक्तियाँ भी "असंकुचित" होने पर भी संकुचित" होकर प्रकाशित होती हैं, उसी समय यह आणवादि मल त्रय से युक्त होकर संसारी (जीव) कहा जाता है ।[1]

यह शक्ति संकोच ही संसारत्वि (जीवत्व) का मूल कारण बनता है ।[2] इस संकोच का क्रम से निम्न प्रकार से प्रचलित प्रत्यभिज्ञासूत्र के अनुसार होता है –

इच्छा शक्ति का संकोच "अपूर्णमन्यता" रूप ही आणवमलम् होता है ।[3] ज्ञान शक्ति का संकोच ही अन्तःकरण (मन–बुद्धि अहंकार) युक्त भिन्न प्रथात्मक "मायीयमल" कहलाता है ।[4]

क्रियाशक्ति का संकोच कर्मेन्द्रिय (वागादि) युक्त शुभाशुभकर्म युक्त "कार्ममल" कहलाता है ।

इस प्रकार से परमशिव की सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व व व्यापकत्व आदि शक्तियाँ संकुचित होकर कला, राग, विद्या, काल नियति के रूप में माया के (पञ्चकंचुक) बनकर प्रकाशित होती हैं ।[5] और इस प्रकार से शक्ति संकोच युक्त यह शक्ति दरिद्र ही संसारी कहलाता है, पुनः अपनी शकितयों के विकास से यह शिव ही हो जाता है ।[6]

1– "यदा चिदात्मा" परमेश्वरः स्वस्वातन्त्रयात् अभेदव्याप्ति निमज्जय भेंद व्याप्तिम् अवलम्बते, तदा "तदीया इच्छादिशक्तयः" असंकुचिता अपिसंकोचवत्यो भान्ति, तदानीमेव च अयं "मलावृतः संसारी" भवति । (प्र0हृ0सू0 9, पृ0 65)

2– "चिद्वत्त्च्छक्ति संकोचात् मलावृतः संसारी"। तदेव, 9

3– "अपूर्णमन्यतारूपम् आणवं मलम् ।" तदेव, पृ0, 66

4– "ज्ञानशक्तिः क्रमेण संकोचात् . . . भिन्नवेद्यप्रथारूपं मायीयमलम्" ।(तदेव)

5– "क्रियाशक्तिः क्रमेण . . संकोचग्रहणपूर्वम् . . शुभाशुभानुष्ठानमय कार्म मलम्" ।(तदेव)

6– "अयं शकित दरिद्रः संसारी उच्यते, स्वशक्तिविकासे तु शिव एव" ।(तदेव)

अभिनवगुप्त के मुख्य शिष्य राजानक क्षेमराजानुसार इस संकोच की अवस्था में भी यह "जीव"[1] शिव की तरह[2] ही सर्गादि पञ्चकृत्य करता ही रहता है । इस तथ्य की पुष्टि आचार्य अभिनव भी पर्यन्त–पञ्चाशिका में करते हैं[3] ।

तथा इस पञ्चकृत्य कारिता में जोकि प्रत्यभिज्ञानय कथित है उसका व कुलमत उक्त (क्षेपो ज्ञानं) इत्यादि पञ्चकृत्य कारिता का समन्वय भी करते हैं ।[4]

इन दोनों प्रस्थानों की पञ्चकृत्यकारिता का एकत्र निदर्शन प्रस्थानों के समन्वय का परिचायक है ।

इस प्रकार से स्वयं ही अपनी शक्तियों के व्यामोह से मोहित होकर ही 'शिव' इस का संसारित्व[5] होता है । वह "जीव" कहलाता है । यही भाव आचार्य ने "पञ्चाशिका" में भी अवतरित किया है[6] ।

अतएव "जीव" वस्तुतः "शिव" ही होता है, इसमें कोई भी विप्रतिपत्ति नहीं है[7], व इनमें स्वरूपतः भी कोई भेद नहीं । इसी आगमिक नैगमिक अर्थ का अभ्युपगम सर्वतन्त्रसिद्धान्त के रूप में सभी दार्शनिक प्रस्थानों में सिद्ध होता है । इसी का प्रतिपादन आचार्य कृत "पर्यन्त–पञ्चाशिका" में भी सूत्ररूप में मिलता है ।"शिवोऽहमिति विश्वसेत" इस रूप में ।

1– "तथापि तद्वत पञ्चकृत्यानि करोति ।" (प्र0हृ0सू0 ,10, पृ067)

2– "सृष्टिसंहारकर्तारं विलयस्थितिकारकम् ।
अनुग्रहकरं देवं प्रणतार्तिविनाशनम् ।।"(स्व0तं0)

3– "सर्गस्थापनसंहारनिग्रहानुग्रहक्रमात् ।
पञ्चकृत्यानि कुर्वाणः शिवोऽहमिति विश्वसेत् ।।"(प0पं0श्लोक, 24)

4– "क्षेपोज्ञानसंख्यानगतिर्नादक्रमेण,
गुरूवक्त्रेण तान्यात्मन्याकलय्य कृती भवेत् ।।"(तदेव,श्लोक, 25)

5– "तदपरिज्ञाने स्वशक्तिभिर्व्यामोहितता संसारित्वम् ।।"(प0हृ0सू012, पृ070)

6– "आभिः परस्परं .... नानासंकोचसंकटः ।।"(प0पं0श्लोक, 48)

7– "स्वशक्ति विकासे तु शिव एव ।।"(प्र0 हृ0सू0, 9)

स्वानुभूति के उपाय

संसार में प्रत्येक साध्य की सिद्धि साधनों के द्वारा की जाती है, यह प्रत्यक्ष ही है । अतएव इसी सिद्धान्त के अनुसार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रवत्ति मनुष्यों द्वारा सम्पादित की जाती है । वे अपने निर्धारित लक्ष्य (साध्य) की सिद्धि सम्बन्धित निर्धारित (साधनों) से करते हैं ।

यहाँ इस आध्यात्मिक क्षेत्र में भी यही सिद्धान्त घटित होता है । क्योंकि संसार की विचित्र रचना , सुखदु:खादि, वैषम्य, दोषादि देखने से एक मन में जिज्ञासा का उदय होता है कि यह जगत् क्या है ? ईश्वर कौन है ? मैं क्या हूँ ? इन्हीं प्रश्नों के द्वारा मानव की जिज्ञासा उसे निश्चित मार्ग पर चलने को प्रेरित करती है । वही मार्ग उसका साधन हो जाता है । साधन को ही "उपाय" भी कहते हैं ।

यह सभी दार्शनिकों का उद्घोष है कि मनुष्य जब अपनी आत्मा व स्वयं के वास्तविक स्वरूप को जान जाता है , तभी उसे जीव, जगत् व ईश्वर का ज्ञान मिलता है । तभी वह अपने को कृत-कृत्य कर सकता है । तथा दूसरे जीवों का उपकार करने में भी समर्थ हो सकता है ।

सभी प्रकार वे दु:खों, क्लेशों चिन्ताओं व आवागमन के चक्र में मुक्त हो सकता है । वास्तव में अविद्या वा अज्ञान ही इसके सब क्लेशों का मूल होता है । जिसका निराकरण स्वात्म-ज्ञान से ही संभव है। अतः ऋषि मुनियों ने प्रत्येक अवस्था के लिए स्वात्मानुभूति करने के लिए बल दिया है ।वृहदारण्यक उपनिषद् में योगी याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी को कहा कि "यह आत्मा प्राप्त करना चाहिए जानना चाहिए इत्यादि ।[1]

बिना उपायों के ज्ञान के उपेय की प्राप्ति संभव नहीं हो सकती है, इसी-लिए आत्मानुभूति वा स्वानुभूति के क्या उपाय शैवागम में वर्णित हैं ? तथा किस प्रकार से आचार्य ने "पञ्चाशिका में उनका गुम्फन सूत्र रूप में किया है?", यही संक्षेप से वर्णित किया जा रहा है ।

1– "आत्मा अरे वा श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः ।"(वृ0उ0)

"पर्यन्त–पञ्चाशिका" में मोक्ष, ज्ञान, स्वानुभूति को प्राप्त करने के जिन उपायों का प्रत्यक्ष उललेख है, वे, अनन्योपाय व आत्मोपाय ही हैं । तथा लक्षणा के रूप में शांभव, शाक्तोपाय आणवपोपाय के भी लक्षण मिलते हैं ।

इसे इस प्रकार से भी कहा जा सकता है कि "पर्यन्त–पञ्चाशिका" में आगमोक्त शांभव–शाक्त व आणवोपायों के द्वारा सर्वोत्कृष्ट आत्मानुभूति प्राप्त होती है, वही चरमवस्था में साध्य व साधन बन जाती है । इन साध्य – साधन की एकता को द्योतित करने के लिए ही आचार्य ने "अनन्योपाय" व "आत्मोपाय" कहकर प्रतिपादित किया है[1] । इसे इन दो अभिधानों के अतिरिक्त "अनुपाय" व "आनन्दोपाय" भी कहते हैं ।[2]

अनुपाय

तन्त्रलोक टीका के अनुसार चिद् – आनन्द घनावस्था अथवा प्रकाशैकमात्र की प्रधानता में निष्पन्न होकर रहना ही "अनुपाय" है । यद्यपि वह प्रकाश निर्विमर्श नहीं होता, तदपि अपने विश्वोत्तीर्ण रूप में वह "चिद्"-आनन्द "-घन ही रहता है । यही कहा भी गया है । शिव दृष्टि के अनुसार शिव ही फलावस्था व व्यापार भी है । अतएव सज्जनों को भावना व करण से कया लाभ ? जबकि शिव ही सततोदित रहते हैं ।[3]

1– "अनन्योपायमेतत्तदात्मोपायं प्रचक्षते ।।" (प०पं०, श्लोक, 20)

2– "This is called Atmopaya or Anupaya, it is also called Anandopaya".

(प० पं० पा० टि०, श्लो० 20, पृ 10)

3– " शिव एव फलावस्था व्यापार इति साधुषु ।

भावनाकरणाभ्यां किं शिवस्य सततोदिते ।।" (शि०दृ०, 7/10)

शांभवोपाय

इस "अनुपाय" नामक प्रथमोकत दैवीसाधन के अनन्तर अन्य पुरूषार्थगम्य साधन का प्रतिपादन भी "पर्यन्त – पञ्चाशिका" में किया है । और उसकी आगमिकार्थ को वहन करने की दृष्टि का संकलन भी यत्र–तत्र मिलता है । पर्यन्त–पञ्चाशिका के स्थलों की शांभवोपाय कता को प्रदर्शित करने से पूर्व हम किञ्चित् शांभवोपाय के स्वरूप के विषय में भी प्रकाश डालते हैं ।

शांभवोपाय के स्वरूप के विषय में "मालिनी विजय तन्त्रम्" में कहा है कि कुछ भी न सोचते हुए गुरू के द्वारा प्रतिबोधित करने से जो सामावेश साधक में उत्पन्न होता है वही शांभव कहा जाता है ।[1]

तथा अनुत्तराष्टिका के अनुसार यह विश्व मुझ से उदित है, मुझ में प्रतिबिम्बित है व मुझसे ही अभिन्न है यह तीन प्रकार का परामर्श ही शाम्भवोपाय कहलाता है ।[2] कुछ भी न त्यागो न ग्रहण करो केवल विरामपूर्वक जैसे हो वैसे ही अवस्थित रहकर स्वस्थ रहो ।[3]

इस प्रकार से उपर्युक्त मतों के पर्यालोचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि शांभवोपाय में आन्तरिक प्रत्यगात्मतत्त्व पूर्णाहं भाव का जो आवेश होता है, वही शांभवोपाय है ।[4] वह पूर्णादिभाव में पूर्णतः निष्पन्न हो जाना ही "अनुपाय" है । यही इन दोनों का भेद है ।

इसी पूर्वोक्त प्रक्रिया का दर्शन "पर्यन्त– पञ्चाशिका" में यत्र–तत्र होता है ।[5]

1– "अकिंचिच्चिन्तकस्यैव गुरूणा प्रतिबोधतः ।
जायते यः समावेशोः शाम्भवोऽसाबुदाहृतः ।।"(मा0वि0, उदृ0,शि0सू0भू0, पृ033)

2– "मत्त एवोदितमिदं मय्येव प्रतिबिम्बितम् ।
मदभिननमदं चेति त्रिधोपायः स शाम्भवः ।।"(तं0आ03/280)

3– "मा किञ्चित् त्यज मा गृहाण, विरम स्वस्थे यथावस्थितः ।।"(अनु0अ02
शि0सू0भू0पृ034)

4– "स्वस्वरूपविश्रान्तिनेदीयानावेशः शांभवः ।। (म0प्र0,पृ021)

5– अहमित्यनुशीलनयन् ।।"(प0पं0,श्लोक, 21)

"उपेया भैरवी स्थितिः ।।"(तदेव, श्लोक, 50)

वह पद न तो कर्म से व नही कर्म त्यागने से मिलता है, न जाकर नवा न जाकर ही उसे प्राप्त किया जा सकता है ।[1]

शांभवोपाय की पराकाष्ठा ही अनुपाय है इसे आत्मा के द्वारा स्वयं ही प्रापत होने के कारण आत्मोपाय तथा अल्प प्रयत्नमात्र से गम्य होने के कारण भी इसे "अनुपाय" कहा जाता है क्योंकि इसमें आध्यात्मिक गुरू ही शक्ति पात करके शिष्य के प्रयत्नों की आवश्यकता नहीं रहने देता ।

शक्तिपात का लक्ष्ण करते हुए त्रिपुरा रहस्य ज्ञान खण्ड में कहा गया है कि "सद्विमर्श ही शक्तिपात होता है और विना भगवद् (गुरू) शक्ति पात के कौन श्रेय को प्राप्त कर सकता है ?

अतएव पूर्वोक्तोपाय को अनुपाय कहा जाता है । इसकी प्राप्ति भगवदिच्छा से होने के कारण ही यह "सुखपूर्वक" प्राप्त हो जाता है, इसीलिए इसे "आनन्दोपाय" भी कहते हैं । इन्हीं कारणों से आचार्य अभिनव ने "पर्यन्त–पञ्चाशिका" में इसी का एकमात्र स्पष्ट रूप से परिग णन करके भगवदिच्छाशक्ति प्रयुक्त शक्तिपात् की महिमा का ही ख्यापन किया है । और शाक्तगमानुकूल ही अपनी कृति का सूत्रण किया है ।

1– "अकृत्वापि कृत्वा वा न तल्लभ्यते कर्हिचित् ।
अगत्वा चापि वा गत्वा न तदासादयेत् पदम् ।।" (त्रिं०र०ज्ञा०ख०, 10/14)

इस उपाय को अनेक पर्यायों से भी कहा जाता हे जैसे – शांभव योग, शांभवसमावेश, इच्छा योग, अभेदोपाय, अविकल्प योग का उपाय, निर्विकल्पोपाय व योग आदि । इसमें मूलतः तीन रूपों में ही स्वात्मानुभूति होती है –

(क) स्वंसंवित् का अचानक उच्छलनातमक शैवी प्रतिभा का "पूर्णाहंभाव" का उन्मेष होता है ।[1]

(ख) इस पूणाहिं भाव के उन्मेष में समस्त कल्पनाकुल का बाध हो जाता है ।[2]

(ग) यह स्थिति अन्तर्मुख "इस तत्व" भैरव तन्त्र में अवधान वालों की ही होती है ।[3]

आचार्य अभिनव भी कहते हैं कि – अपनी व्योमेश्वरी आत्मचिति को जानकर जडजगत को उसमें डूबो दे ।[4]

अतएव यही संक्षेप में शांभवोपाय आचार्य ने पर्यन्तपञ्चाशिका प्रतिपादित किया है ।

शाक्तोपाय–

आचार्य अभिनवपाद ने "पर्यन्त–पञ्चाशिका" में शाक्तोपाय को भी लक्षित करते हुए सूत्रित किया है । क्योंकि यह भी आगमिक ग्रन्थों का प्रतिपाद्य उपाय है । अतएव शाक्ताचार्य होने के कारण भी इस उपाय का अपह्नव आचार्य द्वारा कैसे किया जा सकता था । वस्तुतः सम्पूर्ण "पर्यन्त–पञ्चाशिका" को भी यदि शाक्तोपाय कहा जाए तो भी कोई अत्युक्ति नहीं होगी । क्योंकि आचार्य कृति के आदि में "अनुच्चार्य परावाक् कहकर" भैरवीय शक्ति की ही वन्दना

1– "संविदो झगिति उच्छलनात्मकपरप्रतिभोन्मज्जनरूप उधमः स एव . . . भैरवो ।" (शिव0सू0वि0श्लोक, 1/पृ030)

2– "सकलकल्पनाकुलालंकवलनमयत्वाच्च ।।" (तदेव, पृ030)

3– "अन्तर्मुखैतत्तत्त्वावधानधनानां जायते ।" (तदेव, 21)

4– "व्योमेश्वरीमात्मचितिं विगाह्य ब्रोडयेज्जडम् ।।" (प0पं0श्लोक, 23)

करते हैं, तथा अन्त में "सर्वोपाय युक्त आत्मसंवित्ति में प्रवेश करो" कहकर उसी परावाक् रूपी शक्ति का ही उपसंहार करते हैं । अतएव यह सार्थक रूप से कहा जा सकता है कि उक्त कृति शाक्तोपाय का ही विलासमात्र है ।

आचार्य अभिनव ने पञ्चाशिका में इस उक्त शाक्तोपाय के स्वरूपात्मक सूत्र का ग्रथन तेइसवें श्लोक में निम्न भङ्गिमा से किया है –

खेचरी आदि चार स्रोतों से युक्त वाहों रूपी महाह्रद में अच्छी प्रकार अवगाहन (स्नान, तैरना) करके व्योमेश्वरी स्वरूप आत्मचिति को जानकर, इस जड़ जगत् को डुबो दे ।[1]

इस स्थल पर शाक्तोपाय की अभिव्यञ्जना "खेचरी" व "वाह" पदों से होती है कि ये वाह परमेश्वर की स्फुरण धाराएँ कहे गए हैं ।[2] और यह परप्रमाता के ही अंश स्वरूप होती हैं, उसकी "विमर्श" होने से । इनकी पाञ्च संख्या होती हैं जैसे – व्योमेश्वरी, खेचरी, दिक्चरी, गोचरी, भूचरी । ये शक्तियाँ ही विभिन्न प्रकार से साधक को बहिर्मुखी रखती हैं । इनमें व्योमवामेश्वरी को माया शक्ति वा स्वातन्त्र्यशक्ति कहते हैं ।इसी से वामादि पञ्चशक्तियों की स्फुरणा होती हैं । चिदाकाश में विचरण करने से खेचरी, अनतः इन्द्रियों में चरने से गोचरी, बहिरिन्द्रियों में चलने से दिक्चरी व भाव जगत् भूमि आदि में चरने से भूचरी कहलाती है ।[3]

1– "खेचर्यादिचतुः स्रोतोवाहपूर्णो महाह्रदम् ।
व्योमेश्वरीमात्मचितिं विगाह्य ब्रोडयेज्जडम् ।।" (प0पं0श्लोक, 23)

2– "वाहाः परमेश्वरस्य स्फुरणधाराः ।।" (म0मं0, पृ0 92)

3– "व्योमवामेश्वरीति सा च परमेश्वरस्य अविकल्प्यभूम्यनुप्राविष्टा .....
खे चरणात् खेचरी, दिक्षु अन्तःकरणेषु चरति दिक्चरी, गोषु बहिरिन्द्रयेषु संचरणात् भूमिपरूप विषयोचित्याचरणात् भूचरीति ।।" (तदेव, पृ0 93)

ये शाक्त धाराएँ जो कि परमशिव से ही स्रवित होती हैं, इनमें समावेश प्राप्त करते हुए ही साधक परमशिवैक्य प्राप्त करता है, यही विश्व की सृष्टि का कारण बनती है ।[1]

अतएव चित् शक्ति के स्वरूप में ध्यान करने के कारण ही इस शाक्तोपाय कहा जाता है । यही पूर्वोक्तोपाय से इसकी भिन्नता है । इस शाक्तयोग, ज्ञानोपाय, ज्ञानयोग, भावनोपाय व मन्त्रोपाय भी कहते हैं[2] । इस शाक्तोपाय के द्वारा विकल्प की भी शुद्धि होती है और साधक अविकल्पित स्थिति को प्राप्त कर लेता है । इसीलिए मालिनी विजय के अनुसार मन्त्रादि उच्चारण रहित परमार्थसत्ता को चिन्तन करते हुए जो समावेश साधक को प्राप्त होता है वही शाक्त समावेश कहा जाता है ।[3]

अतएव पूर्णाहमात्मक शिव की विमर्शिनी शक्ति में ही समावेश करने से प्रयत्न भी कहा जाता है[4] । उसके द्वारा ही साधक मन्त्र के रहस्य को प्राप्त कर विद्याशरीरी सत्ता की स्थिति प्राप्त कर लेता है[5] । इस प्रकार की विद्या स्थिति के लाभ होने से वह स्वाभाविक खेचरी शिवावस्था को भी क्रमशः प्राप्त कर लेता है[6] ।अतएव शाक्तोपाय मुख्यरूप से मातृका चक्रसंबोध , सत् तर्क, सद्विद्या के रूप में चित्तान्तर्गत मांत्रिक शक्ति की असीमित शक्ति उपासना पर ही बल देता है,और आगमिक ग्रन्थों के विचार की ही पुष्टि करता है ।

1- "तत्रस्थां मुच्यते धाराम्..... सर्व–मात्मन्यात्मन्यन्तकम्।" (तं0आ04/134)

2- "Saktopaya is also known as Saktopaya, Jnanopaya, Jnanayoga, Bhavanopaya, Mantropaya".

(शि0 सू0 भू0, पृ 53)

3 - "उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयन् । यं समाबेशमाप्नोति शाक्तः सोऽत्राभिधीयते ।।"
(म0वि0,शि0सू0भू0 2/22, पृ043)

4 - "प्रयत्नः साधकः ।।" (शि0सू0, 2/2)

5 - "विद्या शरीरसत्ता मन्त्ररहस्यम् ।।" (तदेव 2/3)

6 - "विद्यासमुत्थाने स्वाभाविके खेचरी शिवावस्था ।।" (तदेव, 2/5)

आणवोपाय

जब साधक शाक्तोपायोक्त विद्या की साधना में सफल नहीं हो सकता तो वह पुनः विकल्प की दशा को प्राप्त हो जाता है । अर्थात् पुनः सांसारिक प्रमाता बनकर संसार सागर में डूबने लगता है । अतएव इस प्रकार की अवस्था में पहुंचे हुए साधारण जीव के लिए जिस उपाय का उपदेश आगमिक ग्रन्थों ने किया है, वह "आणवोपाय" कहलाता है । "आणव" शब्द अणु पद से बना है और इस प्रकरण में संकुचित प्रमाता को ही "अणु" कहा जाता है ।[2]

"अणु" को जीव, माया, प्रमाता व संकुचति संसारी भी कहा जाता है । इसमें भेद दृष्टि का ही प्राधान्य रहने के कारण इसे "अणु" कहते हैं । क्योंकि ये अणु "देहपुर्यष्टकादि में ही बद्ध रहता है ।इन मन, बुद्धि आदि के उपायों के द्वारा अर्थात् जप, ध्यान, चिन्तन से जो साधना की जाती है, वह आणवोपाय कहलाती है । यह आगम ग्रन्थों में पाञ्च प्रकार से कही गई है ।

(क) ध्यान

अपने देह में साधक पृथिव्यादि शिवान्त तत्त्व रूपी कलाओं का लय भावना से जब दाहादि की युक्ति से संहार करता है तो, ही ध्यान नामक उपाय कहलाता है ।

(ख) उच्चार

इसका सम्बन्ध प्राणशक्ति से है । यह दो प्रकार से अवस्थित रहता है-एक सामान्यवृत्ति (जीवात्मिका) से व अन्य प्राण अपानादि विशेषवृत्ति से इनमें सूक्ष्म सामान्यवृत्यात्म प्राण ही "वर्ण" कहा जाता है । इसका आगे वर्णन किया जा रहा है ।

यहाँ प्राण की विशेष वृत्ति की एकाग्रता जब साधक (अणु) जीव अपनी देह के विभिन्न भागों जैसे – प्रमाता, मेयरहित शून्य, प्रमेय, प्राणापानादि में करता है तो निजानन्द, निरानन्द, परानन्दादि की उत्पत्ति होती है[1]। यह परम्परा जगदानन्द तक चलती है और सिद्धानुमोदित है[2]। यह प्राणयोग प्राणायाम से अत्यन्त भिन्न है। इस उक्त आनन्द के लक्षण देह में आनन्द, उद्भव आदि के रूप में मिलते हैं।[3]

(ग) <u>वर्ण</u>

वर्ण की विषय में आचार्य का कथन है कि पूर्वोक्त उच्चार जोकि स्पुरित होते हुए स्थित रहता है। उसी की अव्यक्त स्थिति में जो ध्वनि होती है, वही "वर्ण" कहलाती है[4]। इस वर्ण का अनुसंधान ही वर्ण योग वा ध्वनि योग, नाद योग, कहलाता है। आचार्य शंकर अपनी योगतारावली में इसे "नादानुसंधान" कहते हैं[5]। इस वर्णात्मक नाद में एकाग्रता करके साधन विशुद्ध चैतन्य को पा सकता है।

(घ) <u>करण</u>

करण की प्रक्रिया का सम्बन्ध देह के साथ है। यह सात प्रकार का होता है। ग्राह्य, ग्राहक, चित्, निवेश, व्याप्ति, त्याग व आक्षेप[6]। इनमें अकिंचित् चिन्तन ही संभवावेश का भाग है, —प्ति शाक्तोपाय का एवं ग्राह्यादि चार आणवोपाय हैं। इस प्रकार से चिद् संवित् में स्थिति प्राप्त करने के उपाय बनते हैं।

1– "अथ प्राणस्य या वृत्तिः प्राणनाद्या निरूपिता ...निरानन्दं विभावयेत्।" (तं0आ05/43–4)

2– "तदेव जगदानन्द मस्मभ्यं शंभुरूचिवान्।" (तदेव 5/52)

3– "आनन्द उद्भवः कम्पो निद्रा घूर्णिश्च पञ्चकम्" (तदेव, 5/107)

4– "उक्तो य एष उच्चारस्तत्र.... ध्वनिर्वर्णः कथ्यते।" (तदेव, 5/131)

5–

6– "ग्राह्यग्राहकचिद्व्यापित त्यागाक्षेपनिवेशनैः।" (तं0आ0, 5/129)

(ड.) स्थान कल्पना

जब साधक का चित्त उक्तोपायों में से कहीं भी स्थिर नहीं होता है, तो उसको बाह्य प्रक्रिया का जो भाग कहा जाता है । वही स्थान कल्पना है । आचार्य अभिनव भी कहते हैं कि इस स्थान कल्पना शब्द से प्राणवायु, देह व बाह्य वस्तु का ग्रहण करना चाहिए ।[1]

इस प्रकार से यह "आणवोपाय" शाक्तोपाय तक, "शाक्तोपाय," शांभवोपाय तक व "शांभवोपाय" "अनुपाय" में प्रतिष्ठित करने के सौपान हैं । यह संक्षेप में जानना चाहिए । इस प्रकार से किसी भी पूर्वोक्तोपाय को अवलम्बित करके साधक पराचिति, परमशिव में परिनिष्ठित हो सकता है । यही स्वानुभूति कही गई है । और संक्षेप में "पर्यन्त – पञ्चाशिका" में भी सूत्ररूप में लक्षित की गई है । आचार्य के अनुसार सम्पूर्ण "पर्यन्त – पञ्चाशिका" स्वानुभूति का सर्वश्रेष्ठ उपाय कुलमत सम्मत परावाक्रूपी पूर्णाहन्ता के विमर्शन को ही बताया है । इस से सहज रूप में स्वात्म महेश्वर की अभिव्यक्ति हो जाती है ।

बन्ध–मोक्ष

बन्ध व मोक्ष के विषय में यद्यपि पर्यन्त – पञ्चाशिका में किमापे दिग्दर्शन नहीं किया गया है, तदपि कतिपय स्थलों से यह सहज ही लक्षित हो जाता है कि आचार्य ने बन्ध व मोक्ष को इंगित किया है । स्वेच्छा के द्वारा वह भैरव परिमित होता[2] व कर्म ज्ञानेन्द्रियों आदि को प्राप्त होकर पशु कहा जाता है ।

शैवागमानुसार आणव मल के कारण ही वह परमशिव अपूर्णता को प्राप्त करता है । यह उसकी इच्छा शक्ति के कारण ही होता है । चिदात्मकरूप की अख्याति ही बन्ध है । यह

1– "अथ बाह्य विधिः स एव स्थानप्रकल्पनशब्देन उक्तः । तत्र त्रिधास्थानं प्राणवायु, शरीरं, बाह्यं च ।।" (तं०सा०, पृ०45, शि०सू०भू०पृ०, 57)

2– "कर्मबुद्धयक्षतां प्राप्तावासौ पशुरूच्यते ।
इतीच्छया सभगवान् भैरवः परिमीयते ।।" (पं०पं०, श्लोक 15)

यह शुद्धाध्वा में ही उत्पन्न हो जाता है, इसी लिए इसे अणु भी कहा जाता है। वह अपने स्वप्रकाश की स्वातन्त्र्यशक्ति व उसके ज्ञान के उपहार से ही यह द्विधा आणवमल ही बन्ध के रूप में कहा गया है।[1]

इसके विपरीत अपने वास्तविक स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा के द्वारा अवगति प्राप्त करना ही मोक्ष कहा जाता है। तथा अपने वास्तविक स्वरूप की प्रथा ही मोक्ष कहलाती[2] है। इसे "अकृत्रिम अहम्" , "पूर्णाहम्" चित् भी कहा जाता है। इस पूर्वोक्त (माया) अख्याति को भ्रान्ति भी कहा हे[3]। यह शक्ति शिव का आच्छादन उसी प्रकार कर देती है जैसे भानु के तेज से उत्पन्न मेघ माला सूर्य को । तथा यही शक्ति विक्षेप के रूप में दुर्दिन में खिन्न करने वाली शीत वायु द्वारा समस्त जीवों को कष्ट देती है। इन दोनों शक्तियों से ही वह जीव बन्धन को प्राप्त होता है।[4]

यह महान अन्धकार है कि अनात्मदेहादि में मनुष्य की आत्मत्व बुद्धि होती है। जैसे – की गण्ड के ऊपर कोई अन्य छोटा स्फोट हो जाए।[5]

इस प्रकार से बन्ध की वस्तुतः कोई अन्य कारणता न होकर वह परमशिव ही अपने ऐश्वर्य के अवभासन के योग से स्वयं का वेष्टन करके बन्धमोक्षरूपी विचित्र क्रीडा की संरचना करता है अन्य कोई नहीं।[6]

1– "इह जातृकर्तृरूपं तावच्चित्तत्वस्य स्वरूपं तस्यापहारो नामाणवं मलं येनासावणुः संकुचितो जातः ।।" (ई0प्र0वि0 ,3/2/5)

2– "मोक्षो हि नाम नैवान्यः स्वरूपप्रथनं हि तत् ।।" (तं0सा0पृ0, 92शि0सू0भू0,30)

3– "भ्रान्ते र्महती शक्ति र्न विवेक्तुं शक्यते नाम ।" (प0सा0 , 28)

4– "भानुप्रभासाज्जनिताभ्रपङ्क्ति .... वायुरूग्रो यथैतान्।" (वि0भू0श्लो0144–45)

5– "तिमिरादपि तिमिरमिदं गण्डस्योपरि महानयं स्फोटः ।
यदनात्मन्यपि देहप्राणादावात्ममानित्वम् ।।" (प0सा0 ,श्लोक 31)

6– "स्वज्ञानभिवनभासन ... क्रीडां प्रतनोति परमशिवः ।।" (प0सा0 ,33)

इसी प्रकार स्वस्वरूप की प्राप्ति ही मोक्षसंज्ञक मानी गयी है । बन्ध मोक्ष की वैदिक औपनिषदीय परम्परा का वहन भी आचार्य अभिनव ने किया है । परमार्थसार के अनुसार भावना के द्वारा शिवतत्त्व को जान लेने पर तत्त्व समूह के शिवमय हो जाने पर पुनः क्या मोह व क्या शोक" रह जाता है ? जोकि सभी को ब्रह्म की दृष्टि से देखता है[1] । यह कथन ईशावस्य के कथन की ही प्रतिध्वनि है । मोक्ष व बन्ध वस्तुतः होते ही नहीं हैं, केवल दैहिक वा सापेक्षिक दृष्टि से ही इन की कल्पना चलती रहती है । जैसे – "गगनतलमलिनत्व" न होते हुए भी भासित होता रहता है तथा मृगतृष्णा में जल के अभाव का ज्ञान होने पर भी जलका आभास होता ही रहता है । उसी प्रकार से ये दोनों होते हैं । कहा भी है कि – मोक्ष का न तो कोई धाम (स्थान) है, न ही कहीं उसका आना जाना है । केवल अज्ञानरूपीग्रन्थी के भेदन से स्वात्मीयशक्ति की अभिव्यक्ति ही मोक्ष है ।[2]

अतएव जीवन्मुक्ति की अवस्था को प्राप्त करके ही जीव का परम कल्याण सम्भव होता है और वह कृतकृत्य हो जाता है जिसका शास्त्रों ने सहस्रशः वर्णन किया है । उसी जीवन्मुक्ति "अहं ब्रह्मास्मि" "तत्वमसि" के श्रुतिज्ञान व आगमिकज्ञान का दिग्दर्शन ही आचार्य ने "पञ्चाशिका" में भी तत्–तत् स्थलों पर किया है । इसी लिए वेदान्तसूत्रकार भी कहते हैं कि – ब्रह्म की ही सर्वोत्तम दृष्टि है । सबसे उत्कृष्टतम होने से[3] ।अतएव मनुष्य को भ उसी उसी स्थिति को प्राप्त करना चाहिए । यही आचार्य अभिनव का भी उद्घोष रहा है । अतएव निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि "पर्यन्त–पञ्चाशिका" के अनुसार भी शिव, जीव, जगत में पारमार्थिक एकता मानी गई है । जीव "शिव" ही है, केवल स्वरूप के अज्ञान के कारण वह बन्ध में जाता है व स्वात्मानुभूति से स्वरूप का ज्ञान करके पुनः "शिवत्व" की प्राप्ति कर लेता है जीविवावस्था में ऐसा साधक जीवन्मुक्त व शरीर छोड़ने पर "शिवतुल्य" ही हो जाता है ।[4]

1– "इत्थं तत्त्वसमूहे ..... सर्व ब्रह्मावलोकयतः ।।" (प0सा0,52)

2– "मोक्षस्य नैव किंचित् धामास्ति .... अभिव्यक्ता मोक्षः"। (तदेव, 60)

3– "ब्रह्मदृष्टिरूत्कर्षात् ।।" (ब्र0सू0, 4/1/5)

4– "शिवतुल्यो जायते ।" (शि0सू0, 3/25)

पञ्चमाध्यायः—

– उपसंहार

– वर्तमान उपयोगिता

उपसंहार

महामाहेश्वराचार्य की कृति "पर्यन्त–पञ्चाशिका" का पूर्वोक्त अनुशीलन करने पर हमें उनकी अप्रतिम बौद्धिक आध्यात्मिक क्षमता के साथ ही साथ शैवागम व शाक्तागम के गहन स्थलों का भी सहज सांकेतिक ज्ञान हो जाता है । साथ ही शैवागम के प्रत्यभिज्ञा, कुल व क्रम प्रस्थानों के अन्तर, सामञ्जस्य व मुख्यता का भी पता चलता है । जिसका कि उन्होंने "पर्यन्त पञ्चाशिका" में स्पष्ट ही उपनिबन्धन किया है ।

पर्यालोचन से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि "पर्यन्त – पञ्चाशिका" में शैवागम के त्रिक्-प्रत्यभिज्ञा, कुल व क्रम का समन्वयातमक स्वरूप ही आचार्य ने प्रकाशित किया है और जिस प्रकार से सभी नदियाँ सीधी व कुटिल गति से सागर में लीन होती हैं, उसी प्रकार उक्त प्रस्थान भी अनुत्तर परमशिव, परभैरव, पूर्णाहं, अकृत्रिमाहं, प्रकाशघन, अनाख्य, परप्रमाता, विश्वोत्तीर्ण शिव में ही लीन हो जाते हैं । अर्थात् उसकी प्राप्ति में उपाय बनते हैं ।

जिस प्रकार से श्रुत्यन्तवेत्ताओं ने परब्रह्म को ही सर्वोत्कृष्ट तत्त्व मानकर अपना अद्वैतप्रासाद निर्मित किया है, उसी प्रकार परिपूर्णाहं स्वरूप चैतन्य परमशिव का ही अभ्युपगम करके शैवागम के आचार्यो ने शिवाद्वयनय व शाक्ताद्वयनय की निर्मिति की है ।

"पर्यन्त–पञ्चाशिका" के अध्ययन से जिस नवीन उद्भावना का प्रकाशन होता है वह "शाक्ताद्वयवाद" भी कहा जा सकता है , तथा "शक्ति" वा "वर्णात्मक" स्वरूप "अकार" से "क्षकार" पर्यन्त पञ्चाशत् मातृका शक्ति युक्त किस प्रकार से जगत् रूप में विवर्तित, आभासित, वा प्रतिबिम्बित होता है । यही इस कृति का प्रयोजन है । इसी कारण आचार्य ने प्रत्यभिज्ञानमानुसार श्लोक 7 से 16 पर्यन्त तथा कौलमतानुसार श्लोक 30 से 49 पर्यन्त दोनों प्रस्थानों की सृष्टिप्रक्रियाओं का प्रदर्शन करते हुए, पूर्वप्रस्थान (प्रत्यभिज्ञा) के "अहम्", "इदम्" के रहस्य का ख्यापन संक्षेप में अग्रिम प्रस्थान में "कुलमत" की प्रक्रिया के साथ किया है । और

उपसहार

कृति के प्रथम श्लोक व अन्तिम इक्यावनवें श्लोक द्वारा सम्पुटित रूप में "परावाक्" का ही वर्णन करके "कुलमत" की ही तिपत्ति वा अभ्युपगय को सम्मति प्रदान की है । क्योंकि "अ" से "ह" वर्ण मातृका शक्ति के साथ पूर्णाहं का बोध भी कराते हैं, उसी प्रकार पर्यन्त – पञ्चाशिका में भी "परावाक्" के द्वारा कृति उक्त "पञ्चाशत्" श्लोकों से आचार्य ने भी "पञ्चाशत्" वर्णात्मिका "परावाक्" के वर्णो की लक्षणा ही की है । अतएव इन तथ्यों के आधर पर यह कहा जा सकता है, कि आचार्य अभिनव की यह कृति "शाक्ताद्वयनय" का ही प्रतिनिधित्व करती है तथा "वर्ण" की महती, अप्रतिम, अव्याहत, अनुपम, अखंडित, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमयी, सर्वकार्यकरणक्षम शक्ति का ही प्रकाशन करती है ।

उक्त विशेषता के साथ ही साथ यह वृत्ति वैदिक व तान्त्रिक मान्यताओं के समन्वय में एक सेतु का कार्य भी करती है । प्रायः यह समझा जाता है कि तांत्रिक व वैदिक पक्ष भिन्न है और उसका सामञ्जस्य कदापि नहीं हो सकता । परन्तु गहनता से विचार करने पर यह मान्यता हास्यास्पद ही सिद्ध होती है, क्योंकि वस्तुतः तन्त्र वेद का गुह्य अंग है, इसीलिए इसे "रहस्यविद्या" कहा जाता है । परन्तु मात्र उपनिषदों को ही "रहस्यविद्या" मानना आकर रूप से उचित है, व्याख्यानातमक रूप से नहीं, क्योंकि औपनिषदीय तत्त्वों का विस्तृत व्याख्यान तन्त्र में ही जाकर पूर्णता की ओर अग्रसर होता है । उदाहरण के लिए उपनिषदों में कहा गया है कि "तदैक्षत" , "बहुस्याम्", 'अहम् नामाभवत्,' "स भूः व्याहरत् भूमिरभवत्" इन वाक्यों में, "ईक्षा", "अहम्" व "भूमि" आदि पदों वा वर्णो का व्याख्यान उपनिषदों में पाना दुलर्भ है । यदि किन्हीं स्थलों पर है भी तो मात्र व्युत्पत्तिपरक वा प्रकरणपरक परन्तु इस "ईक्षा", "अहम्" आदि पदों का रहस्य जितने व्यापक रूप में आगम वा तान्त्रिक ग्रन्थों में मिलता है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है । इस क्षेत्र में शैवागम के आचार्यो ने अत्याधिक प्रशंसनीय कार्य किया है । और विशेषतः आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने तो "तन्त्रालोक" की रचना करके एक कीर्तिमान् ही स्थापित किया है ।

"पञ्चाशिका" के प्रणयन द्वारा भी उन्होंने उक्त परम्परा को पुष्ट किया है, और काश्मीरशैवदर्शन के "अनुत्तर-शैव" प्रस्थान की ही प्रतिष्ठा को दर्शाया है । इसी "अनुत्तरशैव दर्शन" में ही सभी त्रिक् दर्शन के सिद्धान्तों, अनुष्ठानों, दार्शनिक अभ्यानों, विचारों का समावेश हो जाता है । यह द्वैतशैव दर्शन, बौद्धिक विज्ञानवाद, वैयाकरणों का शब्दब्रह्मवाद, परिणामवाद, परमाणुवाद व निगुर्ण ब्रह्मवाद का उपपत्ति व उपलब्धि से सहज निरास करता है तथा शुद्धचैतन्यवाद, शिवाद्वयवाद, ईश्वराद्वयवाद, शाक्तद्वयवाद की मार्मिक गहन व्याख्या प्रस्तुत करता है । इस प्रकार से "अनुत्तरशिवदर्शन" प्रतिबिम्बवाद व आभासवाद की ही पुष्टि करता है और विश्व, जीव को शिव का आभास ही मानता है । परन्तु यह वेदान्तप्रतिपादित आभास से भिन्नता रखता है तथा ब्रह्म जीव के ऐक्य के मध्य इस नवीन अकृत्रिमता को प्रतिपादित करता है । जीवेश्वरवाद का सामञ्जस्य स्थापित करने के साथ ही यह अनुत्तर शैवदर्शन व्यावहारिक व पारमार्थिक क्रियाओं के मध्य एक नवीन दृष्टि का सूत्रपात भी करता है । यही इसकी विशेषता है । और "पञ्चकृत्य" "कारिता" से आचार्य ने पर्यन्त –पञ्चाशिका" में भी उक्त व्यावहारिक व पारमार्थिक पार्थक्य व ऐक्य का सूत्रण किया है ।

"पर्यन्त – पञ्चाशिका" भी एक "अनुत्तरशैव-दर्शन" की प्रक्रियात्मक कृति है और इसके द्वारा आचार्य ने सम्पूर्ण काश्मीर शैवागम को सूत्रित करने पर ही अधिक बल दिया है । और "परावाक्" जो कि परमशिव का हृदय है उसकी आदि व अन्त में स्तुति करके तथा पञ्चाशत् संख्या को प्रदर्शित करने के लिए "पञ्चाशिका" पद का प्रयोग भी सापेक्ष ही है, क्योंकि विश्व का 'आदि' व 'पर्यन्त' स्थान यही "पञ्चाशिकात्मिका" "पञ्चाशत्वर्णात्मिका" परमशिव की हृदयरूपा शक्ति ही है अन्य कुछ भी नहीं । यही शिवस्वरूप को प्रतिबिम्बित करने वाला परावाक् रूपी दर्पण है और दर्पण को देख पर जिस प्रकार स्वस्वरूपभूत बिम्ब के दर्शन होते हैं उसी प्रकार यहां भी आचार्य का यही अभिप्रेतार्थ है कि "परावाक्" रूपी दर्पण में जब संकुचित प्रमाता अपना मुखदर्शन करता है, तो वह अपने परप्रमातास्वरूप परमशिव रूपी बिम्ब में ही स्थापित हो जाता है । और वस्तुतः वह वही होता है, परन्तु मात्र प्रत्यभिज्ञान की ही

आवश्यकता होती है ।

अतएव आचार्य अभिनवगुप्त ने "अनुत्तरशैवदर्शन" की प्रक्रिया इस कृति में दिखाते हुए शैवागम के मि. त पुट पर ही अधिक बल दिया है और त्रिकागम का एकात्मक स्वरूप ग्रथित करके ही प्रस्तुत किया है । इस प्रकार से आचार्य त्रिकागम का एक सर्वसमन्वयवादी स्वरूप प्रकाशित व प्रतिष्ठित करते हैं । और "पञ्चाशत्" श्लोकों द्वारा "पञ्चाशत्" वर्णो की अधिष्ठात्री शक्ति "परावाक्" जोकि इनकी स्वामिनी "ईशिका" है उसी की पराकाण्ठा का वर्णन ही "पर्यन्त पञ्चाशिका" के रूप में उपनिवृद्ध करते हैं । "पर्यन्त – पञ्चाशिका" के आदि व अन्त में "परावाक्" की स्तुति करने से वे "अहमात्मिका" पूर्णात्मिका" "परावाग्" के अकार से हकार पर्यन्त वर्णो को संपुटिताकार में द्योतित करने की तरह उक्त "पञ्चाशत्" श्लोकों को भी संपुटित करके परमशिव अनुत्तरभैरव के पूर्णा मक स्वरूप को ही संकेतित का लक्षित करते हैं ।

अतएव परमशिव के हृदय स्वरूप अनुत्तरशिव जोकि परमप्रकाशैकस्वभाव है उसके अहमात्मक रहस्यस्वरूप परावाग् रूपी परमरहस्य को जानकर ही जीव शिव बन सकता है अन्यथा नहीं । यह ध्वनि भी उक्त कृति की है ।

इस "रहस्यात्मक" सार्वभौमिक अर्थ का 'वैदिक' व 'तान्त्रिक' व विश्व के सभी दार्शनिक वा आध्यात्मिक प्रस्थान किमपि अणुमात्र अपलाप भी नहीं कर सकते हैं । क्योंकि विश्व के व मुख्यतः भारत के, आध्यात्मिक विद्या का प्रवर्तक होने के कारण, सभी दार्शनिक, प्रस्थानों का अन्तर्भाव उक्त अनुत्तरशैवदर्शन में स्वाभाविकतया सहजता से ही हो जाता है, जिससे इसकी सार्वभौमिकता सिद्ध होती है तथा अन्य प्रस्थानों की भी व्यवस्था हेतु आचार्य यह अभ्युपगम देते हैं कि – वह परमशिव अनुत्तरभैरव ही, द्रष्टा, श्रोता, घ्राता आदि होते हुए भी देहेन्द्रियवर्जित अकर्ता होने पर भी, सभी प्रकार के शास्त्रों, सिद्धान्तों, आगमों, व तर्क शास्त्रों का निर्माण भी करता है ।[1] अतएव यह धारणा स्वतः ही अवसित हो जाती है कि

1– द्रष्टा श्रोता घ्राता देहेन्द्रियवर्जितोऽप्यकर्तापि ।
सिद्धान्तागमतर्कांश्चित्रानहमेव रचयामि ।। (प0सा0, पृ0 50)

वैदिकादि प्रस्थानों में परस्पर मतभिन्नता है ।

तथा मतभेदों की उपपत्ति हेतु भी यह श्रीमद्भागवोक्त न्याय घटित होता है कि ऋषियों ने अनेक प्रकार से तत्त्वों का प्रसंख्यान किया है, परन्तु सभी न्याय ही कहा जाएगा क्योंकि वह सब युक्ति से प्रतिष्ठापित किया जाता है । तथा विद्वान् पुरूष कोई अशोभन कार्य तो कर ही केसे सकते हैं? [1]

तथा त्रयी, सांख्य, योग, पशुपतिमत व वैष्णव इतयादि रूप से प्रभिन्न प्रस्थान होने पर भी इन सबका पथ्य तो एक ही रहता है । जिस प्रकार सरल व कुटिल गति से सभी नदियों सागर में ही लीन होती हैं उसी प्रकार सभी मनुष्यों का एकमात्र प्राप्य स्थल आप "परमसत्ता" ही है ।[2]

तथा रहस्योपनिषद् के अनुसार ही ब्रह्मा, विष्णु रूद्र, वाणी, लक्ष्मी, भवानी ये 6 सम्प्रदायों के प्रवर्तन करने वाले कहे गए हैं और परमशिव ही इन सबके प्रवर्तक परमात्मा हैं ।[3] अतएव यह सहज ही सिद्ध हो जाता है कि भङ्गिमा भेद से प्रतिपादन करना ही प्रस्थान भेद का जनक होता है, न कि तत्त्व भेद ।

तथा वर्णरहस्यवाद के अनुसार प्रत्येक वर्णात्मिका ध्वनि का वर्णभेद भेददेव भेद का कारण होने से प्रस्थान भेद का कारण बनता है । कामधेनु तन्त्र व वर्णोद्धार तन्त्र में वर्णमूर्ति कल्पना भी इस तथ्य का प्रमाण है ।[4]

1— "नाना प्रसंख्यानं तत्त्वानां ऋषिभिर्बहुधा कृतम् ।
सर्व न्याय्यं युक्तिमत्वाद् विदुषां किमशोभनम् ।।" (श्री०भा०पु०, 12/4/3)

2— "त्रयी सांख्यं योग पशुपतिमत वैष्णवमिति, प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रूचिनां वैचित्र्या दृजुकुटिलनानापथजुषाम ।
नृणामेको गम्य स्त्वमसि पयसामर्णव इव ।।" (शि०महि०स्तो०, 7)

3— "रहस्योपनिषदि — ब्रह्मा विष्णुश्च रूद्रश्च वाणी लक्ष्मीः भवानीति ताः सम्प्रदायकाः क्रमात्" (का०क०वि०चि०व०, पृ० 73)

4— "शरदिन्दू सदृश पञ्चदेव मय शाक्ति त्रययुक्त, निर्गुणः निर्गुणोपेतः कैवल्यमूर्तिः, बिन्दुतत्त्वमय, प्रकृतिस्वरूप अकारः" (द्र०प्रा०तो०तं०, पृ० 36)

कुछ विद्वानों की यह धारण है कि इन प्राचीन प्रस्थानों की परम्परा ही लुप्त हो चुकी है, मात्र शास्त्रीय शब्दों के आर्थिकज्ञान अथवा निरर्थकज्ञान पर ही अवलम्बित रहना पड़ा है और अन्य मार्ग नहीं ।

किन्हीं की विप्रतिपत्ति है कि यह सब दार्शनिक साधनाएँ वा चिन्तन वर्तमान भौतिक, युग में सम्भव नहीं और ये साधनाएँ या चिन्तन केवल महापुरूष ही कर सकते हैं जनसाधारण नहीं क्योंकि इनमें अनेक मर्यादाओं का झमेला है ।

इस प्रकार से जितना अविश्वास, कुतर्क, घृणा, आश्चर्य, भय, कल्पना, विरोध, उपहास, अपमान, निराशा व दुस्साहस दार्शनिक विद्या के विषय में व्यवहृत किया जाता है उतना सम्भवतः आज किसी अन्य विद्या के साथ नहीं ।

ऐसी परिस्थिति में सामान्यहृदय का विचलित व भयभीत होना भी स्वाभाविक ही होता है,और यदि वह इन सबका उपहासादि का सामना करने के लिए महाभारत के अर्जुन की भाँति जूझने का संकल्प रखता है,तभी केवल तभी वह इस विद्या के रहस्य को समझ व साक्षात्कर कर सकता है । परन्तु आज ऐसे कटिबद्ध मरणान्तक प्रण लेने वाले जन विरल ही हैं । अस्तु ।

उक्त परिस्थिति का चित्रण प्रस्तुत सन्दर्भ में इसी लिए संक्षेप से किया गया है कि जिससे हम वर्तमान में दार्शनिक रहस्यविद्या की उपयोगिता का दिग्दर्शन करा सकें और यह सिद्ध कर सकें, कि वर्तमान में इस दार्शनिक आध्यात्मिक विद्या की कितनी आवश्यकता है ।

विश्व का इतिहास व विशेषतःभारतवर्ष का इतिहास इस विषय का प्रमाण है कि समय – समय पर भारतीय आध्यात्मिक विद्या की शक्ति ने भारत को व विश्व को भी मार्गदर्शन किया है । जब तक इस आध्यात्मिक विद्या की उपासना भारत करता रहा वह महान् से महानतम बनता रहा, परन्तु जब–जब इसकी उपासना का ह्रास वा मन्दता हुई तभी – तभी उसका पतन भी हुआ । इसी कारण से वर्तमानकाल में भी भारतीय दुर्दशा का यही कारण है

कि वह चतुर्विक् पतन के गर्त में गिरता जा रहा है । भारतीय, शिक्षा, राजनीति, आर्थिकता, सामाजिकता इत्यादि सभी क्षेत्रों में हा – हाकार, चतुर्दिक् निराश, हताशा, पलायनवाद, विरोधवाद, आतंकवाद, अमानवीयता, मूल्यहीनता, इत्यादि इसी उक्त पतन के प्रमाण हैं । अतएव "अध्यात्म विद्या विद्याओं में मैं हूँ" भगवान् के इस वाक्य को आज जन – जन के कान में मन्त्र के रूप में फूंकने की आवश्यकता है ।

युगपुरूष स्वामीविवेकानन्द जी ने भी इसी सन्दर्भ में कहा था कि पाश्चात्य की आश्चर्यजनक उन्नति व भारत के पतन का यही कारण है कि वे हमारी आध्यात्मिक शिक्षाओं का अनुसरण करते हैं और हम उनकी शिक्षाओं का।अतएव हम आत्मविश्वासहीन हो चुके हैं, और आतमविश्वास हीन व्यक्ति या समाज की रक्षा महापुरूष तो क्या साक्षात् ब्रह्मा भी नहीं कर सकता । अस्तु ।

अब हम प्रासंगिक विषय पर ही प्रकाश डालेंगे कि – वर्तमानयुग में हम विश्व में, हमारे देश में इस दार्शनिक ज्ञान व विशेषतः "अनुत्तरशैव दर्शन" के ज्ञान के प्रसार की अत्यन्तावश्यकता है । क्योंकि आचार्य शंकर का "निर्गुण ब्रह्मवाद" व "मायावाद" अत्युत्कृष्ट बौद्धिकजनों के समझने व करने की वस्तु है, तदपि इस अनुत्तरशैवदर्शनवाद" में अत्यन्त व्यापक व्यावहारिक दृष्टि का अवलम्बन करते हुए परमार्थ व व्यवहार का सुन्दर समन्वय मिलता है । तथा गूढ़ दार्शनिक रहस्यों का भी सुलभ प्रकाशन ।

इसका अन्य कारण यह भी है कि अभी तक शंकराचार्य के समय से लेकर उपनिषदोक्त अद्वैतवेदान्त का ही अधिक प्रचार – प्रसार हुआ है और उसी का ही अनुगमन भी करते हैं । परन्तु उसमें अधिकांशतः "मायावाद" की अनिर्वचनीयता तक "जगन्मिथ्या" वाद को उचितरूप से ग्रहण न कर पाने के कारण निराशवादी व पलायनवादी हो जाते हैं, और किस पतन के गर्त में गिर जाते हैं यह भी अविदित नहीं है ।

अतएव सर्वत्र ही शास्त्रालोचन करने पर पूर्ण शिवाद्वयनय वा शक्त्याद्वयनय के दर्शन ही स्थल–स्थल पर होते हैं, इसी ईश्वराद्वयवाद का प्रणयन उक्त "पर्यन्त–पञ्चाशिका" में प्रामाणिक रूप से सारस्वरूप में आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने किया है ।

<u>वर्तमानोपयोगिता</u>

प्रस्तुत कृतिं "पर्यन्त – पञ्चाशिका" यद्यपि एक दार्शनिक कृति है और वह भी सूत्ररूप में तदपि उसकी व्यावहारिक उपयोगिता भी उतनी ही प्रमाणिक व मुख्य है जितनी की सैद्धान्तिक व शास्त्रीय ।

प्रायः जन–साधारण व विद्वन्मन्य वर्ग में यह प्रवाद सुना जाता है कि दार्शनिक आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थ व प्रतिपादित सिद्धान्त केवल बौद्धिक मतवाद वा मान्यताएँ हैं, इनका साधारण मानव के जीवन से किंचित्मात्र भी दूर का सम्बन्ध नहीं है । इस अवधारणा के कारण ही दर्शन शास्त्र व दार्शनिकों का, जनसाधारण ही नहीं उच्चशिक्षित पठित बौद्धिक वर्ग भी कितना, उपहास करते हैं उसकी कल्पना इस निम्न उदाहरण से हो जाएगी कि –जनसाधारण में यदि कोई दार्शनिक व्यक्ति जनमानस को दार्शनिक उपदेशादि सुनाए तो लोग उससे घृणा करना प्रारम्भ कर देते हैं और उसके पास भी नहीं फटकते अथवा हंसी मजाक में बात–बात पर यह मुहावरा देते हैं कि "अरे भाई तुम तो फिलासफर" हो, बस करो यह फिलास्फी हमें न सुनाओ", "अरे वह तो बहुत बड़ा फिलासफर है" अर्थात् "झूठ बोलने वाला, अजीबोगरीब बातें करने वाला तथा मानसिक रोग से ग्रस्त कोई त्याज्य जीव है" । इत्यादि ।

जो कुछ शास्त्रादि पठित वर्ग भी है, चाहे वह किसी भी आयु वर्ग का हो उसकी भी यही धारणा नितान्त दृढ़मूल हो चुकी है, कि दार्शनिक आचार्यों ने मात्र एक दूसरे का खण्डन ही किया है और शास्त्रार्थ में पराजय करने की दृष्टि से ही शास्त्रों में वितण्डावाद खड़ा किया है। तथा यदि कुछ वास्तविकता भी इन ग्रन्थों में है तो उसके लिए वर्तमानकाल उपयुक्त नहीं क्योंकि ग्रन्थ में कहे गए तत्त्वों का चिन्तन व साक्षात्कार वर्तमान में नहीं किया जा सकता ।

अतएव यदि हम इस श्रुत्यानुमोदित "अनुत्तरशैवदर्शन" की शिवशक्त्याद्वयनयवादी परमदृष्टि का अवलम्बन करते हैं तो हमारे समाज में फैले हुए अनेक प्रकार के अकल्पित आश्चर्यजनक हा हाकार का नाश अवश्य ही संभव हैं । क्योंकि साक्षात् भगवान् भी कहते हैं । ज्ञानाग्नि तत्क्षण ही सम्पूर्ण कर्मों का नाश कर देती है ।[1]

अतएव आज राष्ट्र में इसी "अनुत्तरशैवदर्शनोक्त" शिवशक्त्याद्वयनय की महाज्वाला प्रकाशित करने की आवश्यकता है जिसमें राष्ट्र में व्याप्त सभी दोष जैसे, अज्ञान, आतंकवाद, विरोध, पलायनवाद, अशिक्षा, बेरोजगारी, चरित्रहीनता, धार्मिक कुरीतियाँ, भ्रष्टाचार, संशयवाद, निराशावाद , भाषावाद, सम्प्रदायवाद इत्यादि असंख्य पाप–ताप नष्ट हो सकते हैं । इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ।

अतएव हम उस परमप्रभु महादेव से प्रार्थना करते हैं कि वह हमें अपनी कृपा युक्त दृष्टि की शकित प्रदान करें जिससे कि हम उनके द्वारा प्रदत्त इस सकलजडजड्.गमजगतहितकारी निर्मल ज्ञान के द्वारा अपना भी उत्थान कर सकें व मानवमात्र की पीड़ाओं को शान्त कर सकें और अपनी प्राचीन आध्यात्मिक विद्या की सुपुष्ट व सार्वभौमिक सनातन परम्परा के वाहक बनते हुए, भारतवर्ष के पुष्पभ्रान्तिम गौरव की रक्षा करते हुए पवित्र मातृभूति की सेवा करते हुए, ऋषियों, मुनियों, सिद्धों, साधकों, विचारकों, सुधारकों, ज्ञानियों, योगियों, देशभक्तों, ईशभक्तों व पूर्वजों के ऋण से उऋण हो सकें । तथा विश्व को भारतीय आध्यात्मिक शक्ति की ज्ञान शिखा का दर्शन व परिचय दे सकें ।

1– ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मासात् कुरूते तथा ।। श्री0भ0गी0 4/37

परन्तु "अनुत्तर शैवदर्शन" का शक्त्यद्वयवाद, विश्व में सामञ्जसय तथा सरलता की प्रतिष्ठा करता है और जनमात्र के स्तर पर आकर उसका मार्ग प्रशस्त करता है । परमशिव की शक्ति के प्रति जो जनमानस में त्याग व घृणा का भाव है उसका निरासकरता है तथा शक्ति की उपासना के द्वारा शिवसाक्षात्कार का मार्ग सुलभ कराता है । इस रहस्य को "शंकराचार्य भी जानते थे और तभी उनके द्वारा प्रतिष्ठापित चारों मठों में तब से लेकर अब तक भी श्रीभगवती की ही आराधना अक्षुण्ण चल रही है । और वे आन्तरिक रूप से आचार्य अभिनव की तरह शाक्त ही थे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है । तदपि युगानुसार बौद्ध विभिषिका से सनातन वैदिक माहेश्वर ज्ञान की रक्षा हेतु ही उन्होंने कार्य किया था तथा कार्य व परिस्थितियों की भिन्नता होने के कारण ही उनके प्रस्थान में व आचार्य अभिनव के प्रस्थान में भिन्नता लक्षित होती है ऐसा हमारा मन्तव्य है ।

अथवा यह भी उद्भावना की जा सकती है कि परमशिव ने ही शङ्कराचार्य के रूप में दक्षिण से अवतारग्रहणकर प्रकाशैकमात्र चित् तत्त्व की ही प्रतिष्ठा की हो तथा पुनः अपने द्वितीय अवतार में उत्तर से शक्ति तत्त्व की प्रतिष्ठा को ही अपना ध्येय बनाया हो । क्योंकि शिव व शक्ति तत्त्व के विषय में दोनों सिद्धाचार्यो की मत भिन्नता नहीं हैं । केवल तात्त्विक दार्शनिक प्रस्थान के विषय में ही कतिपय वैविध्य हैं । इसी लिए परम्परावादियों में परस्पर मतभेद ही चलता रहता है । इसका प्रभाव जनसाधारण की अबोधमति पर पड़ता है और पुनः विखण्डनवाद की प्रवृत्ति होती है । अतएव इस प्रकार की अद्वैतहीनता की दृष्टि ही सकल कष्टों पतनों, विरोधाभासों का कारण होती है जिसके सम्बन्ध में श्रुतियों ने भी ऐकमत्य से उद्घोष किया है कि – वह मृत्यु से मृत्यु को ही प्राप्त करता है जोकि नाना दर्शन करता है।[1]

1– मनसेवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन ।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ।। क० 2.4.1

ग्रन्थानुक्रमणिका

क्रमांक	ग्रन्थ नाम	लेखक	प्रकाश/संस्करण/वर्ष
1–	अध्यात्म रामायणम्	–	गीताप्रेस, गोरखपुर, वि0सं02037
1–	अनुभवामृत	श्रीज्ञानेश्वरमहाराजजी	हिन्दीसाहित्य कुटीर, वि0सं02037
3–	अर्थसंग्रह	लौंगाक्षिभास्कर	चौखम्भा संस्कृत सीरिज, वाराणसी, 1953 ई0
4–	ईशादिदशोपनिषद्	श्री मच्छंदन्राचार्य	मोतीलाल बनारसी दास, नई दिल्ली,
5–	ईशावास्यभाष्यटीका	आनन्दगिरि	आ0सं0ग्र0पूना, ई01934
6–	ईश्वरप्रत्याभिज्ञा	उत्पलाचार्य	मोतीलाल बनारसी दास
7–	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी	अभिनवगुप्त	प्राच्य विद्या अनुसंधान का0श्रीनगर, 1943 ई0
8–	उपदेशसाहस्री	शंकराचार्य	गयाघाट वाराणसी, ई0 1954
9–	ऐतरेयोपनिषद् भाष्य टीका	आनन्दगिरि	आ0सं0ग्र0पूना, 1931 ई0
10–	कठोपनिषद्भाष्यम्	श्रीशङ्कराचार्य	गीताप्रेसगोरखपुर, सं02016
11–	कनोपनिषद्भाष्यम्	वही	वही
12–	काम कला विलास	श्री पुण्यानन्द	पीताम्बर पीठ, वन खण्डेश्वर, दतिया, 1820स
13–	किरणागम	सम्पादक म0म0श्रीगोपी नाथ कविराज	चौखम्भा सीरिज वाराणसी
14–	कौलकल्पतरू		चण्डीप्रत्रिका, इलाहाबाद
15–	गीताभाष्यम्	श्रीशंकराचार्य	मोतीलाल वनारसी दास नई दिल्ली, 1988
16–	गुरूनाथपरामर्श	मधुराजयोगिन	चौखम्भा सीरिज, वाराणसी
17–	गौडपादीयम् आगमशास्त्रम्	विधुशेखर, भट्टाचार्य	कलकत्ता वि0वि0, 1950
18–	चिद्विलास	सम्पूर्णानन्द	ज्ञानमण्डल, वाराणसी, 2016सं0
19–	चिद्विलास	स्वामीमुक्तानन्द	गणेशपुरी, पूना

20–	छान्दोग्योपनिषद् भाष्यम्	शंकराचार्य	गीता0प्रे0 गोरखपुर
21–	तन्त्रालोक	अभिनवगुप्तचार्य	प्रा0वि0अनु0श्रीनगर
22–	तन्त्रसार	अभिनवगुप्त	प्रा0वि0अनु0श्रीनगर
23–	तैत्तरीयोपनिषद्भाष्य	शंकराचार्य	गी0प्रे0गोरखपुर
24–	दक्षिणामूर्तिस्तोत्रवार्तिक, सुश्वेराचार्य मैसूर, ई0 1925		
25–	दुर्गा सप्तशती	–	गी0प्रे0गोरखपुर–75, 2057सं0
26–	नैष्कर्म्यसिद्धि	वही	मैसूर, 1925 ई0
27–	न्यायकन्दली	प्रशस्तपाद	नि0अनु0सं0वि0वाराणसी, 3, 1934 ई0
28–	न्यायनिर्णय	आनन्दगिरि	वि0सा0प्रे0मुम्बई
29–	निरूक्त	यास्क	वही, ई01918
30–	पंचदशी	विद्यारण्य	भार्गव पु0वाराणसी, ई01940
31–	पंचप्रक्रिया	सर्वज्ञात्ममनि	मद्रास वि0वि0ई01946
32–	पंचपादिका	पद्मपादाचार्य	वही, ई0 1958
33–	पंचीकरणवार्तिकम्	सुरेश्वराचार्य	ग0प्रि0प्रे0मुम्बई, 1930 ई0
34–	पंचीकरणविवरणम्	आनन्दगिरि	वही
35–	पदयोजनिका	रामतीर्थ	नि0सा0प्रे0, ई01948
36–	परमार्थसार	अभिनवगुप्त	प्रा0वि0अनु0श्रीनगर, 1916 ई0
37–	परमार्थ चर्चा	वही	वही

38–	परात्रिंशिका	अभिनवगुप्त	प्रा0वि0अनु0श्रीनगर ई01918
39–	प्रश्नोपनिषद्भाष्यटीका	आनन्दगिरि	आ0सा0ग्र0पूना, पई01932
40–	प्राणतोषिणीतन्त्रम्	वही	चण्डी0का0 इलाहाबाद
41–	पातञ्जलयोगसूत्र	महर्षिपतञ्जलि	मोती लाल बनारसी दास, नई दिल्ली, 1980
42–	ब्रह्मसूत्र	बादरायण	वही, 1985 ई0
43–	बृहदारण्यकभाष्यटीका	आनन्दगिरि	वा0वि0ग्र0काशीसं02011
44–	वृहदारण्यकवार्तिकसार	विद्यारण्य	चौ0सं0सी, वाराणसी, ई01919
45–	भामती	वाचस्पतिमिश्र	नि0सा0प्रे0 ई01934
46–	भर्तृहरिशतकत्रयम्	सम्पादक, वासुदेव	ई0 1917
47–	महानयप्रकाश	गोरक्षनाथ	प्रा0वि0अनु0श्रीनगर, 1914
48–	महार्थमञ्जरी	महेश्वरानन्दवही0	"
49–	मालिनीविजयतन्त्रम्	,	"
50–	मालिनीविजयवार्त्तिकम	अभिनवगुप्त	"
51–	महिम्नस्तोत्रटीका	मधुसूदनसरस्वती	चौ0सं0सी0वाराणसी, 1938
52–	योगिनीहृदयम्	सं0म0म0गोपीनाथ	नि0अनु0सं0वा0सं0वि0वि0वारा0सं01885
53–	लुप्तागमसंग्रह	वही	वही
54–	सपन्दकारिका	वसुगुपत	प्रा0वि0अनु0श्रीनगर, 1920 ई0

55–	सौंदयलहरी	शंकराचार्य	मो0ब0नई0दिल्ली
56–	शिवसूत्र	वसुगुप्त	वही, ई0 1991
57–	शिवदृष्टि	सोमानन्द	प्रा0वि0अनु0श्रीनगर, ई0 1934
58–	विवेक चूड़ामणि	शंकराचार्य	गी0प्र0 गोरखपुर
59–	श्रीविद्यारत्नाकर	करपात्रिस्वामी	श्री वि0सा0पी0इलाहाबाद सं0 2049